अतीत के
प्रेरक भारतीय वैज्ञानिक

अरविन्द गुप्ता
चित्रांकन: कैरन हैडॉक

विषय-सूची

परिचय

मैं बहुत हर्ष के साथ पाठकों से *अतीत के प्रेरक भारतीय वैज्ञानिक* पुस्तक पढ़ने की सिफारिश करता हूं। इस सुन्दर पुस्तक को अरविन्द गुप्ता ने लिखा है और कैरन हैडॉक ने इसके मनमोहक चित्र बनाए है। इंडियन नैशनल साइन्स असोसिएशन (इन्सा) अपनी स्थापना के 75 वर्ष पूरे होने पर प्लैटिनम जुबली मना रहा है। इस उपलक्ष में इन्सा पूरे वर्ष भर अनेकों पुस्तकें प्रकाशित करेगा। इनमें से अधिकांश वैज्ञानिक अनुसंधान की भारी-भरकम पुस्तकें होंगी। इस मौके पर हम एक लोकप्रिय पुस्तक प्रकाशित करना चाहते थे - *अतीत के प्रेरक भारतीय वैज्ञानिकों* पर। हम बच्चों को पसंद आने वाली एक आकर्षक पुस्तक छापना चाहते थे। जब मैं इस बारे में सोच रहा था तभी मुझे अरविन्द गुप्ता द्वारा एक लेक्चर की अध्यक्षता करने का मौका मिला। फरवरी 2008 को राष्ट्रीय विज्ञान दिवस पर अरविन्द गुप्ता को विज्ञान प्रसार के लिए *इंदिरा गांधी पुरुस्कार* मिलना था। उनका भाषण सुनने के बाद मैं उनकी क्षमताओं को लेकर पूरी तरह आश्वास्त हुआ और इस पुस्तक को लिखने के लिए मैंने उन्हें आमंत्रित किया। अरविन्द गुप्ता ने इस निमन्त्रण को स्वीकारा और कैरन हैडॉक को पुस्तक के चित्र बनाने के लिए राजी किया। पुस्तक के लिए एक सलाहकार कमेटी का गठन हुआ जिसमें प्रख्यात वैज्ञानिक जयंत नार्लिकर, माधव गाडगिल और थनु पद्मनाभन शामिल थे। सारा काम समय पर सम्पन्न हुआ और उसकी वजह से यह यह सुन्दर आज हमारे हाथ में है। मैं लेखक, चित्रकार और सलाहकार समिति का शुक्रगुजार हूं। मुझे पूरा विश्वास है कि इस पुस्तक से बच्चों के साथ-साथ व्यस्कों का भी मनोरंजन और ज्ञानवर्द्धन होगा।

एम विजयन
अध्यक्ष
इंडियन नैशनल साइन्स असोसिएशन

इस पुस्तक के विचार ने 28 फरवरी 2008 को जन्म लिया। मौका था राष्ट्रीय विज्ञान दिवस का और स्थान था इंडियन नैशनल साइन्स असोसिएशन (इन्सा) नई दिल्ली। मुझे वहां इन्सा के अध्यक्ष प्रो विजयन के हाथों विज्ञान प्रसार के लिए *इंदिरा गांधी पुरुस्कार* मिलना था। बातचीत के दौरान प्रो विजयन ने मुझसे इन्सा के 75 वर्ष (प्लैटिनम जुबली) पूरे होने के उपलक्ष में *'विलक्षण भारतीय वैज्ञानिकों'* के बारे में एक लोकप्रिय पुस्तक लिखने का आग्रह किया। उन्होंनें कहा, *'पुस्तक अतीत के वैज्ञानिकों के बारे में हो और पठनीय हो। पुस्तक में अच्छे चित्र हों जिससे बच्चे उसे चाव से पढ़ें।'*

प्रो विजयन ने अपने आग्रह पर गंभीरता से अमल किया। कुछ दिनों बाद उन्होंने प्रो जयंत नार्लिकर से संपर्क कर उन्हें इस पुस्तक कमेटी की अध्यक्षता संभालने के लिए राजी किया। प्रो नार्लिकर ने प्रो माधव गाडगिल और प्रो थनु पद्मनाभन को पुस्तक की सुझाव समिति में आमंत्रित किया। मैं इस कमेटी के विद्वान सदस्यों को बेहद आभारी हूं। ये लोग न केवल दुनिया के चोटी के वैज्ञानिक हैं परंतु वे सभी बेहद संवेदनशील इंसान भी हैं।

वैज्ञानिकों का चयन

कुछ बैठकों के बाद 40 वैज्ञानिकों की सूची तैयार हुई। वैज्ञानिकों को किस आधार पर चुना गया? सबसे पहले *नोबेल प्रॉइज* से सम्मानित वैज्ञानिकों को सम्मिलित किया गया। फिर उन वैज्ञानिकों को शामिल किया गया जो *फेलो ऑफ द रॉयल सोसाइटी* (एफआरएस) के सदस्य चुने गए थे। नैन सिंह रावत का नाम एक साहसी सर्वेयर के रूप में उभरा। उन्होंनें वो काम किया जिसे गोरे अंग्रेज खुद करने में विफल रहे। उन्होंनें हिमालय में तिब्बत और ल्हासा जैसे दुर्मिल क्षेत्रों का सर्वेक्षण किया। इस काम के लिए उन्हें स्वयं अंग्रेजों ने विक्टोरिया मेडल से सम्मानित किया। इन्सा ने कुछ नाम सुझाए। इनमें से पंजाब के प्रख्यात विज्ञान प्रसारक रुचि राम साहनी और करोड़ों लोगों की जान बचाने वाले – *टेटरासाईक्लिन* के अन्वेषक येल्लाप्रदा सुब्बाराव

के नाम चुने गए। देश के सबसे प्रख्यात पक्षी निरीक्षक और संशोधक सलीम अली और भारतीय स्पेस कार्यक्रम के संस्थापक विक्रम साराभाई के नाम भी शरीक किए गए। कुछ कम प्रख्यात वैज्ञानिकों के नामों को भी सूची में जोड़ा गया। इन विलक्षण लोगों का योगदान भी बहुत महत्वपूर्ण है। प्रो दामोदर धर्मानंद कोसम्बी – गणितज्ञ एवं इतिहासकार, *शिरोडकर स्टिच* के आविष्कारक डाक्टर शिरोडकर, *जयपुर फुट* के डिजाइनर डाक्टर प्रमोद कर्ण सेठी, पर्यारवरणविद् अनिल अग्रवाल और हजारों लोगों के लिए सस्ते घरों के आर्कीटेक्ट लॉरी बेकर को शामिल किया गया। 1978 में मुझे लॉरी बेकर के साथ कुछ समय काम करने का मौका मिला था। इसलिए सूची में उनका नाम देख कर मुझे अपार प्रसन्नता हुई।

'इसमें महिला वैज्ञानिक क्यों नहीं हैं?' प्रो गाडगिल ने एक दिन पूछा। उन्होंनें प्रख्यात मानवशास्त्री (एन्थ्रोपॉलोजिस्ट) प्रो इरावती कर्वे का नाम भी सुझाया। सौभाग्य से उसी समय एक अनूठी पुस्तक *'लीलावतीस डॉटर्स'* का विमोचन हुआ। इसमें 100 भारतीय महिला वैज्ञानिकों ने अपने जीवन की संघर्ष गाथायों को अपने शब्दों में बयां किया था। इस पुस्तक की सहायता से हम दो अन्य प्रख्यात महिला वैज्ञानिकों – अन्ना मणि और कमला सोहोनी के नामों को जोड़ पाए। मर्द-प्रधान विज्ञान के क्षेत्र में इन महिलाओं का योगदान वास्तव में बेजोड़ था।

महिला वैज्ञानिकों की संख्या कम क्यों?

यह एक संगीन विषय है – चालीस शीर्ष भारतीय वैज्ञानिकों की सूची में केवल तीन ही महिलाएं क्यों? बीस क्यों नहीं? कारण स्पष्ट है – पुरुष-प्रधान समाज में आगे बढ़ने के लिए महिलाओं को अपार संघर्ष करना पड़ता है। सौ साल पहले जब महिलाओं की शिक्षा पर सामाजिक सुधारकों की नजर पड़ी तब भी जोर उन्हें एक पतिव्रता पत्नी और अच्छी गृहणी बनाने पर ही था। सामंती और पुरुष-प्रधान समाज में केवल मुट्ठी भर उच्च जाति / वर्ग की महिलाओं को ही उच्च शिक्षा का मौका मिला। इन महिलाओं को भी विज्ञान के क्षेत्र में अपने पैर जमाने में ऐड़ी-चोटी का संघर्ष करना पड़ा।

एक उदाहरण लें। कमला सोहोनी बम्बई विश्वविद्यालय की टॉपर थीं। उसके बावजूद नोबेल पुरुस्कार विजेता सर रमन ने उन्हें दाखिला देने से इंकार किया। *'मैं अपनी संस्था में किसी भी लड़की को नहीं लूंगा।'* जब कमला ने रमन के दफ्तर में जाकर धरना दिया तब रमन थोड़ा नरम पड़े। उन्होंनें आखिर में कमला को दाखिला तो दिया परंतु एक 'विशेष' छात्र के रूप में। बाद में कमला ने एक विलक्षण शोधकर्ता के रूप में अपनी साख जमाई और केम्ब्रिज से पीएचडी हासिल की। शुरू की महिला वैज्ञानिकों को पुरुष-प्रधान विज्ञान के क्षेत्र में अपने पैर जमाने में बहुत मेहनत-मशक्कत करनी पड़ी। उनके संघर्षों और कुर्बानियों से भावी पीढ़ियों के लिए रास्ता प्रशस्त हुआ।

आज स्थिति पहले से निश्चित ही बेहतर है। एक अनुमान के अनुसार वर्तमान में दस लाख से अधिक भारतीय महिला वैज्ञानिक हैं। यह सचमुच एक हर्ष की बात है।

पुस्तक लिखने की जिम्मेदारी स्वीकार करने के बाद मैं उसमें पूरी तरह डूब गया और धीरे-धीरे इसमें मुझे लुत्फ भी आने लगा। सौभाग्य से डा कैरन हेडौक ने पुस्तक के चित्र और उसे डिजाइन करने की जिम्मेदारी को स्वीकारा। कैरन, बॉयोफिजिक्स में पीएचडी हैं और वो पिछले 20 सालों से भारत में हैं। उनके माता-पिता दोनों चित्रकार थे और यह कला उन्हें वसीयत में मिली है। उन्होंनें होशंगाबाद विज्ञान कार्यक्रम की *'बाल-वैज्ञानिक'* पुस्तकों में अपने सजीव चित्रों से एक नई जान फूंकी। कैरन की रजामंदी के बाद मुझे एक अच्छी और सुंदर किताब तैयार होने का भरोसा हुआ। इस पुस्तक में मेरा योगदान बहुत थोड़ा है। अगर यह पुस्तक लोकप्रिय होगी तो इसका पूरा श्रेय कैरन के सुंदर चित्रों को जाएगा।

लोगों के जहन में वैज्ञानिकों की एक घिसी-पिटी छवि होती है - ऐसे लोग जो सफेद कोट पहने दिन-रात प्रयोगशाला में शोधकार्य करते हैं। परंतु आम लोगों की तरह वैज्ञानिकों की जिंदगी के भी तमाम आयाम होते हैं। पुस्तक में वैज्ञानिकों की जीवनचर्या और शोधकार्य के साथ-साथ कुछ रोचक जानकारियां भी जोड़ी गई हैं। उन्हें विज्ञान की प्रेरणा कैसे मिली? क्या बचपन का कोई खास अनुभव इसके लिए जिम्मेदार था? क्या इस प्रेरणा के पीछे कोई विशेष व्यक्ति - उनकी मां या कोई शिक्षक था? पुस्तक में वैज्ञानिकों के जीवन के कुछ व्यक्तिगत पक्षों को भी संजोया गया है। कुछ कविताएं लिखते थे। कुछ को चित्रकारी का शौक था। कुछ को तेज रफ्तार से बड़ी मोटरसाइकिलें चलाने का चस्का था! जीवन के मानवीय पक्षों को जोड़ने से वैज्ञानिकों के व्यक्तित्व की एक बहु-आयामी छवि तैयार होती है।

पुस्तक की सलाहकार समिति इस पाण्डुलिपि को अंग्रेजी और हिंदी में एक-साथ प्रकाशित करने का सुझाव दिया। समिति ने पुस्तक के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए उसे इंटरनेट पर डालने की सिफारिश भी की। मुझे आशा है कि पाठक इस पुस्तक को पसंद करेंगे और इसका तमाम भाषाओं में अनुवाद होगा। मैं अपनी पत्नी सुनीता और साथी कार्यकर्ता विदुला के सहयोग का तहे-दिल से शुक्रगुजार हूं। इन दोनों ने शुरुआत के मेरे सभी लेखों को पढ़ा और उन्हें बेहतर बनाने के अनेकों सुझाव दिए।
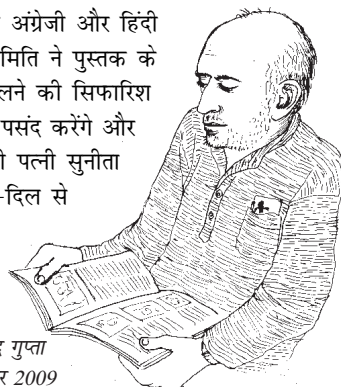
अरविन्द गुप्ता
02 अक्टूबर 2009

अरदासिर कुरसेत्जी

(1808 - 1877)

बहुत कम भारतवासियों ने ही अरदासिर कुरसेत्जी का नाम सुना होगा। बहुत कम लोग इस बात से अवगत होंगे कि बम्बई का यह मरीन इंजिनियर 27 मई 1841 को रॉयल सोसायटी का पहला भारतीय सदस्य बना। रॉयल सोसाइटी की अगली फेलोशिप 75 वर्ष बाद प्रख्यात गणितज्ञ श्रीनिवास रामानुजन को प्रदान की गई।

अंग्रेजी शासक भारत में अपने व्यापारिक और राजनैतिक प्रभुत्व को कायम रखना चाहते थे। इसके लिए उन्होंनें विज्ञान और उभरती नई तकनीकों का सहारा लिया। उन्होंनें भाप-चलित जहाजों द्वारा इंग्लैंड और भारत के बीच यात्रा के समय को कम किया। रेल और टेलीग्राफ का ताना-बाना बुनकर अंग्रेजों ने *कानून और व्यवस्था* की पकड़ और मजबूत की। संचार के इन माध्यमों से लगान और टैक्स की वसूली भी ज्यादा हुई। मुट्‌ठी भर अंग्रेजों के लिए इतने बड़े हिंदुस्तान को नियंत्रण में रखना एक असंभव कार्य था। यह काम हिंदुस्तानियों की मदद के बिना कर पाना नामुमकिन था। शुरु में अंग्रेजों ने कुछ हिंदुस्तानियों को नौकरियां दी - उद्देश्य साफ था - हिंदुस्तान और उसकी जमीं को समझना। बाद में अंग्रेजों ने क्लर्की और मुंशीगिरी की ट्रेनिंग देने के लिए कुछ स्कूल भी स्थापित किए। इस नई शिक्षा से कुछ भारतीयों में राष्ट्रीय मुक्ति की भावना भी जागृत हुई।
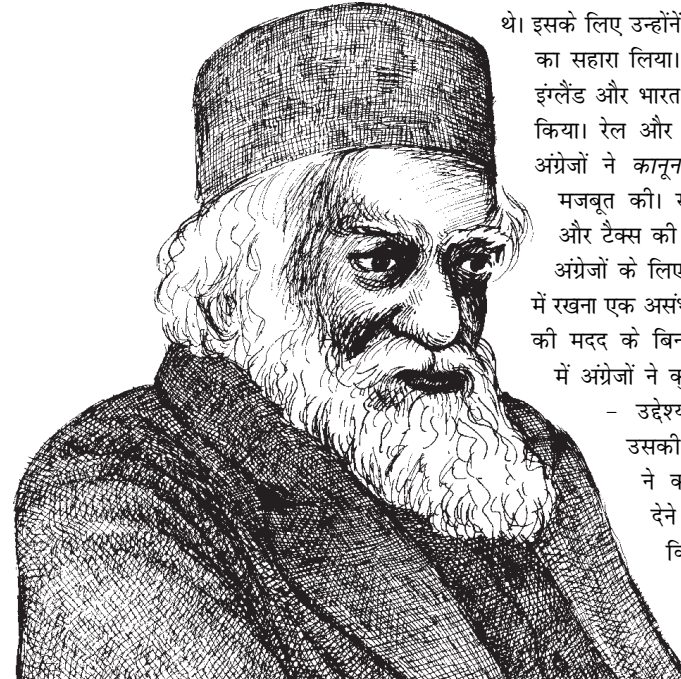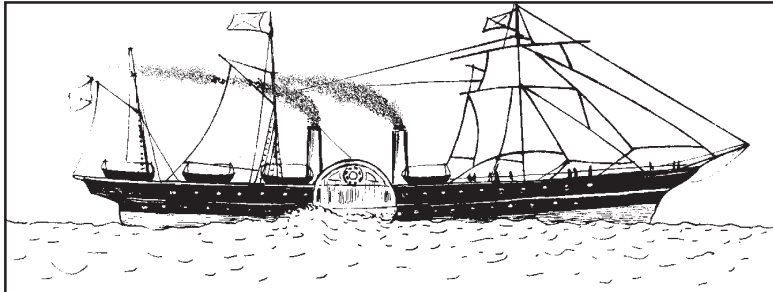
कुरसेत्सी के परिवार ने एक लम्बे अर्से से अंग्रेजों की जहाज बनाने में मदद की थी। उनके एक पुरखे लाओजी नुसरवानजी (वाडिया) सूरत के बन्दरगाह में बढ़ई थे। बाद में अंग्रेज उन्हें नए बन्दरगाह का निर्माण करने के लिए बम्बई लाए। शुरु में अंग्रेज जहाजों के निर्माण के लिए बांझ (ओक) के पेड़ों का उपयोग करते थे। परंतु तेजी से फैलते ब्रिटिश साम्राज्य में जल्द ही 'ओक' के पेड़ों का सफाया हो गया। उन्हें 'ओक' का विकल्प 'मलाबार टीक' में मिला। टीक यानी सागौन की लकड़ी मजबूत होती है और पानी में सड़ती नहीं है। प्रचुर मात्रा में सागौन और कुशल बढ़ईयों की उपलब्धता के कारण बम्बई जहाज बनाने के प्रमुख केन्द्र के रूप में उभरा। जहाज बनाने के काम में लगे कुरसेत्जी परिवार को बहुत प्रतिष्ठा मिली।

उन्नीसवीं शताब्दी के शुरुआत में स्टीम-चलित जहाजों का उद्‌गम हुआ। लगभग उसी समय कुरसेत्जी का भी जन्म हुआ। कुरसेत्जी की रुचि जहाज निर्माण में कम परंतु स्टीम-चलित मशीनों में ज्यादा थी। उन्होंने जल्द ही 1-हार्सपॉवर के इन्जन का निर्माण कर अपनी कुशलता का परिचय दिया। यह भारत में बना पहला इन्जन था। 1833 में कुरसेत्जी ने इंग्लैंड से एक 10-हार्सपॉवर का इन्जन मंगाया और उसे *'इंड्स'* नाम के जहाज में फिट किया। उसी साल उन्हें मझगांव बन्दगाह में नौकरी मिली। कुरसेत्जी ने अपने घर पर लोहा ढलाई की एक छोटी 'फाउंड्री' स्थापित की। यहां वो जहाजों की टंकियां ढालते थे।

उनका अगला करिश्मा था - गैस से जलने वाली सड़क बत्ती का निर्माण। 1834 में कुरसेत्जी ने मझगांव स्थित अपने बंगले और बगीचे को गैस की बत्तियों से रोशन किया।

जल्द ही उन्हें 'प्रैक्टिकल' क्लासेस लेने के लिए एलीफेंस्टन इंस्टिट्यूट में बुलाया गया। उन्होंने वहां भारतीय छात्रों को यांत्रिकी और रासायनिक विज्ञान सिखाया। तीन साल बाद वो इंग्लैंड स्थित रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के अप्रवासी सदस्य चुने गए।

कुरसेत्जी ने अब एक साल इंग्लैंड में गुजारने की सोची। वहां वो पानी के जहाजों में लगने वाले इंजनों की नवीनतम जानकारी हासिल करना चाहते थे। इस यात्रा में कुरसेत्जी अपने नौकरों को भी साथ ले गए क्योंकि वो केवल पारसियों के हाथ का पका खाना ही खाते थे। धार्मिक मामलों में कुरसेत्जी काफी कट्टरवादी थे। इंग्लैंड में उन्हें एक नौजवान पारसी मिला जो पारसी टोप नहीं पहने था। कुरसेत्जी को यह बात आपत्तिजनक लगी। इंग्लैंड में कुरसेत्जी को वहां की संसद - *हॉउस ऑफ कॉमन्स* की बैठक में भी आमंत्रित किया गया।

व्यस्त रहने के बावजूद कुरसेत्जी लंदन से ज्यादा प्रभावित नहीं हुए। इंग्लैंड की रॉयल टकसाल उन्हें बम्बई की टकसाल की तुलना में कहीं गई-गुजरी लगी। उन्हें बम्बई की तुलना में लंदन की सड़कें भी ज्यादा गंदी लगीं।

व्यवसासिक शिक्षण के लिहाज से कुरसेत्जी का यह दौरान बहुत सफल रहा। वो कई ब्रिटिश नामी-गिरामी संस्थाओं के सदस्य भी बने जिनमें - इंस्टिट्यूशन ऑफ सिविल इंजिनियर्स, सोसाइटी ऑफ आर्ट्स एन्ड साइन्स और ब्रिटिश एसोसिएशन फॉर द एडवांसमेंट ऑफ साइन्स शामिल थीं। वापस लौटने पर कुरसेत्जी की नियुक्ति अंग्रेजों की स्टीम कम्पनी और फाउंड्री में, चीफ इंजिनियर और इंस्पैक्टर के पद पर हुई। उनकी तनख्वाह अब 600 रुपए महीना थी, जो पहले की तनख्वाह से छह गुना ज्यादा थी।
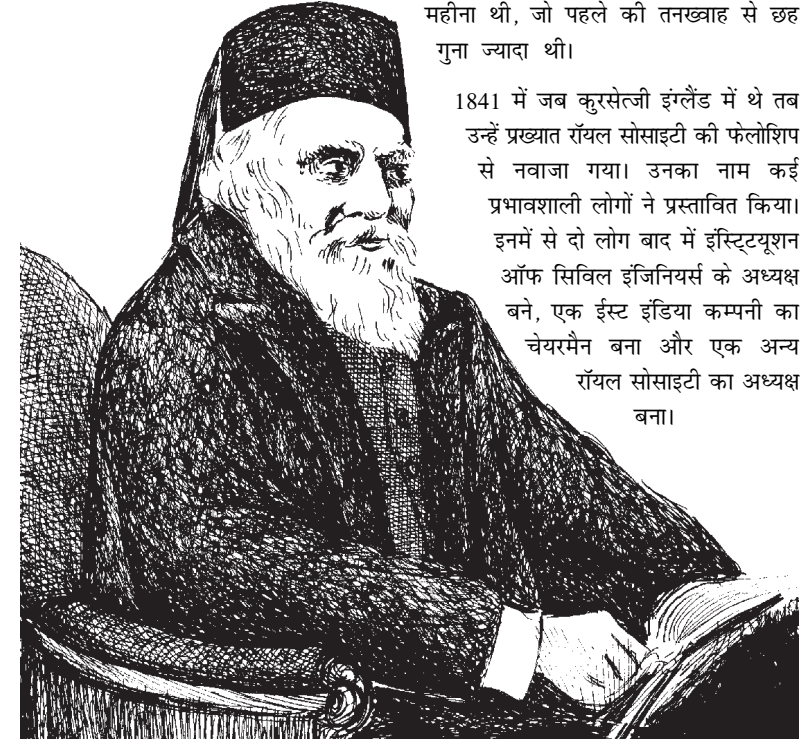
1841 में जब कुरसेत्जी इंग्लैंड में थे तब उन्हें प्रख्यात रॉयल सोसाइटी की फेलोशिप से नवाजा गया। उनका नाम कई प्रभावशाली लोगों ने प्रस्तावित किया। इनमें से दो लोग बाद में इंस्टिट्यूशन ऑफ सिविल इंजिनियर्स के अध्यक्ष बने, एक ईस्ट इंडिया कम्पनी का चेयरमैन बना और एक अन्य रॉयल सोसाइटी का अध्यक्ष बना।

रॉयल सोसाइटी की वर्तमान में छवि, प्रख्यात वैज्ञानिकों के एक संगठन के रूप में है। परंतु बीसवीं शताब्दी के शुरु में रॉयल सोसायटी सम्भ्रांत लोगों का महज एक क्लब था। यह लोग प्रकृति, गणित और इंजिनियरिंग के अलावा 'प्रायोगिक' विज्ञान की तमाम शाखाओं में भी रुचि रखते थे। उस समय की मान्यताओं के अनुसार वहां के समाज ने कुरसेत्जी को एक कुशल इंजिनियर और विज्ञान के प्रसारक के रूप में देखा।

रॉयल सोसाइटी की सदस्यता कुरसेत्जी के लिए महज एक व्यक्तिगत उपलब्धि ही रही। इस खिताब से न तो उनके देशवासी प्रभावित हुए और न ही उनकी कोई पेशेवर उन्नति हुई। जब 1 अप्रैल 1841 को कुरसेत्जी भारत लौटे तो कई यूरोपीय अफसर उनके अधीन थे। कुरसेत्जी पहले भारतीय थे जिनके नीचे गोरे लोगों ने काम किया। उनके स्टाफ में चार गोरे फोरमैन, 100 गोरे बॉयलर-मेकर और इंजिनियर थे। साथ में 200 हिन्दुस्तानी कारीगर भी थे। उनकी नियुक्ति से कई गोरे नाराज भी हुए। अंग्रजों की तरफदारी करने वाले अखबार *बॉम्बे टाइम्स* ने अपनी नाराजगी जाहिर करते हुए लिखा, *'चाहें वो कितना भी पढ़ा-लिखा और काबिल क्यों न हों फिर भी बॉम्बे स्टीम फैक्ट्री जैसी कम्पनी की कमान एक हिन्दुस्तानी को सौंपना गलत है। एक हिन्दुस्तानी बहुत से यूरोपीय लोगों पर नियंत्रण करे यह बात ठीक नहीं है।'*

परंतु कुरसेत्जी ने अपनी इस जिम्मेदारी को बखूबी निभाया। 1849 में कुरसेत्जी अमरीका गए और वहां उन्होंनें लकड़ी का काम करने वाली कुछ मशीनें खरीदीं और उन्हें बम्बई भेजा। उस समय अमरीकी लोग भारतीयों के बारे में क्या सोचते थे वो इस विवरण से स्पष्ट होता है:

> *उस समय के विदेशी मेहमानों में हमें सबसे ज्यादा आश्चर्य तब हुआ जब हमारा मित्र एक जीवित पारसी को अपने साथ चाय पर हमारे घर लाया। उसके सिर पर एक ऊंची टोपी थी। मुझे बहुत ताज्जुब हुआ जब उस अग्नि के उपासक ने साधारण लोगों के साथ चाय पीना स्वीकार किया। पर वो कोई हानिकारक शेर नहीं था। वो बहुत हल्के दहाड़ा। उसने औरों के साथ आराम से डबलरोटी मक्खन खाया और चाय भी पी। उसने बम्बई में अपनी जिंदगी के बारे में हमें कई रोचक कहानियां भी सुनाईं। मुझे साफ याद है - वो बहुत धीरे-धीरे और स्पष्ट शब्दों में बोला जैसे कि वो किसी छोटे बच्चे से बात कर रहा हो। उसने हमारे प्रश्नों का उत्तर बहुत सधी हुई आवाज में दिया। उसकी अंग्रेजी हम लोगों की अंग्रेजी से कहीं बेहतर थी।*

फरवरी 1851 में कुरसेत्जी ने एक स्टीमर लांच किया जिसका नाम *'लाओजी फैमिली'* था। स्टीमर का हरेक कल-पुर्जा देसी था और कुरसेत्जी के घर में लगे कारखाने में बना था। बम्बई शहर का परिचय सिलाई मशीन, फोटोग्राफी और एलक्ट्रो-प्लेटिंग से कराने वाले कुरसेत्जी पहले व्यक्ति थे।

1861 में उन्होंने इंड्स *फ्लोटिला कम्पनी* में चीफ सुपरिंटेंडेन्ट का पद सम्भाला और इस कम्पनी की कोटरी, सिंध स्थित सभी फैक्ट्रियों की बागडोर सम्भाली। फ्लोटिला कम्पनी उस

समय भारतीय नौसेना के अधीन थी और 1863 में उसका विघटन हुआ। कम्पनी बन्द होने के बाद कुरसेत्जी ने उससे इस्तीफा दिया और उसके बाद वो रिचमंड, इंग्लैंड में जाकर बस गए जहां 18 नवम्बर 1877 को उनका देहान्त हुआ।

यह आश्चर्य की बात है कि तमाम उपलब्धियों के बावजूद कुरसेत्जी गुमनाम ही रहे। भारतीय वैज्ञानिक शोध का केन्द्र बम्बई से हट कलकत्ता चला गया था। कलकत्ते के लोगों को कुरसेत्जी के काम के बारे में कुछ पता नहीं था। शायद इसी वजह से भारत का पहला आधुनिक इंजिनियर कभी भी हमारे देशवासियों के लिए एक रोल-मॉडल नहीं बन पाया। भारत सरकार ने देश के इस महान पुत्र की स्मृति में एक डाक टिकट अवश्य जारी किया।

नैन सिंह रावत
(1830 - 1895)

भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने के बाद यह तय था कि अंग्रेजों की निगाहें हिमालय क्षेत्र की अपार सम्पदा पर पड़ेंगी। पर यह काम आसान न था। चीन के सम्राट ने तिब्बत की सीमाएं विदेशियों के लिए सील कर दी थीं और उल्लंघन की सजा मौत थी। सर्वेक्षण विभाग के कई सूरमा इस दुर्गम क्षेत्र का सर्वे करते हुए शहीद हो चुके थे। अंत में थॉमस मांटेगोमरी को एक विलक्षण उपाय सूझा। क्यों न लामाओं के वेश में भारतीय 'जासूस' वहां भेजो और इन दुर्गम स्थानों के नक्शे बनवाओ। चुने लोगों के नाक-नक्श तिब्बतियों जैसे हों, वे पहाड़ी तौर-तरीकों से वाकिफ हों, पढ़े लिखें हों और ज्यादा तनख्वाह न मांगें। हिमालयी सर्वेक्षण के इस काम के लिए मांटेगोमरी ने नैन सिंह और उसके चचेरे भाई मणी सिंह को चुना।

नैन सिंह का बचपन अथाह गरीबी में बीता था। उनकी कोई पुश्तैनी जमीन-जायदाद नहीं थी और परिवार बहुत बड़ा था। उनके लिए घर खर्च चला पाना भी मुश्किल था। उन्होंनें जवानी में कर्ज लेकर व्यापार शुरु किया पर उसमें भी वो असफल रहा। कुछ समय उन्होंनें हिमालय के मिलन गांव में स्कूल की मास्टरी भी की। मणी सिंह, नैन सिंह से बड़ा था। 1863 में मांटेगोमरी ने दोनों भाईयों को सर्वेक्षण का कठिन प्रशिक्षण दिया। यह ट्रेनिंग बाद में हर सर्वेयर या 'चेन-मैन' के लिए अनिवार्य हो गई। उन्हें एक निश्चित गति से चलना सिखाया गया जिससे उनका हर कदम एक निश्चित - 33 इंच की दूरी ही तय करे। कदमों की संख्या गिनने के लिए उन्हें 100 मोतियों वाली माला दी गई थी (सामान्य मालाओं में 108 मोती होते हैं)। एक माला खत्म होने पर वो कुल 10,000 कदम चले होंगें और उन्होंनें 5-मील की दूरी तय होगी!

धार्मिक सैलानी के भेष में नैन सिंह के बोरी-बिस्तर में कई यंत्र छिपे थे। चाय के मग में एक छिपा तहखाना था जो पारे से भरा था - जिससे क्षैतिज (होराइजन) ढूंढने में मदद मिलती थी। उसकी छड़ी में एक तापमापी (थरमामीटर) छिपा था जिसे वो उबलते पानी में डुबोकर वहां की ऊंचाई मापता था। हर स्कूली छात्र जानता है कि पानी उबलने का बिन्दु ऊंचाई पर निर्भर करता है।

पर सबसे महत्वपूर्ण चीजें नैन सिंह की प्रार्थना-चक्र में छिपी थीं। सामान्यत: प्रार्थना-चक्र में कागजों पर लिखे मंत्र भरे होते हैं जैसे - 'ओम मने पद्म: हुम' आदि। परंतु नैन सिंह का विशेष प्रार्थना-चक्र उसके फील्ड-नोट्स - दूरियों, नक्शों, ऊंचाईयों के आंकड़ों से भरा था। इन पैदल सर्वेयरों के नाम भी अजीब थे। उदाहरण के लिए नैन सिंह का नाम *'चीफ पंडित'* और उसके चचेरे भाई का नाम *'सेकंड पंडित'* था। यह विशेष नाम सर्वे करने वालों पर सदा के लिए चिपक गए और बाद में सभी सर्वेयर 'पंडित' के नाम से पुकारे जाने लगे।

1865 में दोनों पंडितों ने अपना पहला अभियान शुरु किया। तिब्बती बार्डर पार करते वक्त उन्हें अपना भेष बदलना पड़ा। नेपाल पहुंचने पर दोनों भाई अलग हुए। नैन सिंह ल्हासा जाने के लिए तिब्बत के बार्डर की ओर बढ़ा। एक व्यापारियों के दल में मिल कर उसने तिब्बत में प्रवेश किया। रास्ते में व्यापारियों ने उसे धोखा दिया और उसके सारे पैसे लूट लिए। सौभाग्य से उसके सर्वे के उपकरण बच गए जो एक डिब्बे के झूठे पेंदे में छिपे थे।

नैन सिंह रावत की डायरी का एक पृष्ठ

नैन सिंह ने 1865 की गर्मियां अपने पुराने किस्म के उपकरणों के साथ ल्हासा में घूमते हुए बितायीं। खाने के लिए वो गुजरते लोगों से भीख मांगता। जनवरी 1866 में वो ल्हासा पहुंचा और वहां एक फकीर जैसे रहने लगा। उसने एक धर्मशाला में कई हफ्ते बिताए। रात के समय वो धर्मशाला की छत से तारों का अध्ययन करता। पानी उबलने के तापमान के आधार पर उसने समुद्र तट से ल्हासा की ऊंचाई का अनुमान 3240 मीटर लगाया। आज नवीनतम उपकरणों द्वारा यह ऊंचाई 3540 मीटर मापी गई है! तारों की कोणीय ऊंचाई नापकर नैन सिंह ने ल्हासा के अक्षांश का अनुमान भी लगाया।

अप्रैल में नैन सिंह अपने सारे उपकरण बटोर कर एक कारवां से साथ वापस भारत लौटा। कारवां तिब्बत की एक प्रमुख नदी सांगपो के साथ-साथ पश्चिम की ओर बढ़ रहा था। एक रात नैन सिंह चुपके से कारवां छोड़कर भाग निकला। फिर उसने उत्तर की ओर बढ़ा और 27 अक्टूबर 1866 को वो सर्वे के देहरादून स्थित मुख्यालय में पहुंचा।

नैन सिंह ने दो और यात्राएं कीं। 1867 की अपनी दूसरी यात्रा के दौरान उसने पश्चिमी तिब्बत का दौरा किया और वहां स्थित प्रख्यात ठोक-जालुंग सोने की खदानों को देखा। वहां के मजदूर केवल सतह को ही खोद रहे थे। उनका मानना था कि गहरी खुदाई करना पृथ्वी के खिलाफ एक अन्याय होगा और उससे पृथ्वी की उर्वरता कम होगी।

1873-75 के बीच नैन सिंह ने कश्मीर में लेह से ल्हासा की यात्रा की। पिछली बार वो सांगपो नदी के किनारे गया था इसलिए इस बार उसने उत्तर का रास्ता चुना। पचास साल तक इस क्षेत्र की ठोस जानकारी का आधार नैन सिंह द्वारा बनाए नक्शे ही थे। अंतिम अभियान का नैन सिंह की सेहत पर बुरा प्रभाव पड़ा। उसकी आंखें बहुत कमजोर हो गयीं।

उसके बाद भी वो कई सालों तक अन्य पंडितों को सर्वे और जासूसी की कला सिखाता रहा। अपने काम में नैन सिंह बहुत पारंगत था।

देहरादून में नैन सिंह के नक्शों के आधार पर बेहतर नक्शे बनाए गए। इस काम को *'ग्रेट ट्रिगनोमैट्रिकल सर्वे'* की स्थापना के बाद अधिक बल मिला। इस विस्तृत सर्वे में शुद्धता से अक्षांश और दक्षांश स्थापित किए गए और फिर धीरे-धीरे बिन्दुओं के बीच त्रिकोण बनाकर भारत के तटवर्ती और अंदर के क्षेत्रों का पूरा नक्शा बनाया गया।

नैन सिंह के काम की ख्याति अब दूर-दूर तक फैल चुकी थी। 1876 में नैन सिंह की उपलब्धियों के बारे में *ज्योग्राफिकल मैगजीन* में लिखा गया। उसके बाद तो बस पुरुस्कारों का तांता ही लग गया। सेवानिवृत्ति के बाद भारत सरकार ने नैन सिंह को बख्शीश में एक गांव और एक हजार रुपए का इनाम दिया। 1868 में *रॉयल ज्योग्राफिक सोसायटी* ने नैन सिंह को एक सोने की घड़ी पुरुस्कार में दी। 1877 में इसी संस्था ने नैन सिंह को *विक्टोरिया पेट्रन्स मैडल* से भी सम्मानित किया। मैडल पर यह शब्द अंकित थे: *'यह वो इंसान है जिसने एशिया के बारे में हमारे ज्ञान को बेहद समृद्ध किया। उस समय कोई अन्य व्यक्ति यह काम नहीं कर सका।'* पैरिस स्थित *सोसायटी ऑफ ज्योग्रफर्स* ने भी नैन सिंह को एक घड़ी भेंट की। जून 27, 2004 को भारत सरकार ने *'ग्रेट ट्रिगनोमैट्रिकल सर्वे'* में नैन सिंह के अहम रोल के उपलक्ष में एक डाक टिकट जारी किया।

नैन सिंह को काफी बूढ़ी उम्र में ही तमाम सम्मानों से अलंकृत किया गया। आखिर क्यों उसने मात्र बीस रुपए माहवाी पर दुर्गम पहाड़ी इलाकों में 16,000 मील की कठिन यात्रा की? शायद उसने जो कुछ भी किया, ठीक ही किया। नैन सिंह ने जो करके दिखाया उसे कभी कोई गोरा नहीं कर पाया!

जगदीश चंद्र बोस

(1858 - 1937)
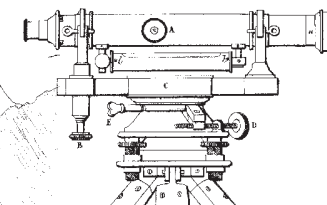
1895 में मॉरकोनी ने वॉयरलेस के माध्यम से एक संदेश भेजा और उसे एक मील दूरी पर रिसीवर द्वारा पकड़ा। परंतु इससे दो साल पहले प्रेसीडेंसी कॉलेज के जगदीश चंद्र बोस ने लगभग इसी वैज्ञानिक प्रयोग को जनता के बीच दिखाया था। उन्होंने वॉयरलेस की मदद से एक मील दूर स्थित घंटी बजाई थी। बोस ने रेडियो तरंगों और पौधों के वैज्ञानिक क्षेत्रों में मौलिक योगदान दिया। पौधों की संवेदनशीलता का उन्हें गहरा ज्ञान था। अक्सर उनके छात्र मजाक करते और अपने प्रोफेसर पर पौधों से बातचीत करने का आरोप लगाते!

बोस का जन्म 30 नवम्बर 1858 को मैमनसिंह, बांग्लादेश में हुआ। उनके पिता भगवान चंद्र बोस एक सरकारी अधिकारी थे। उन्हें अपनी मातृ भाषा बांग्ला और गरीब लोगों से बेहद लगाव था। उन्होंनें बेरोजगारों को काम देने की कोशिश की परंतु इस प्रयास में वो खुद गहरे कर्ज में डूब गए। पिता के आदर्शों ने जगदीश चंद्र को जीवन भर प्रेरित किया।
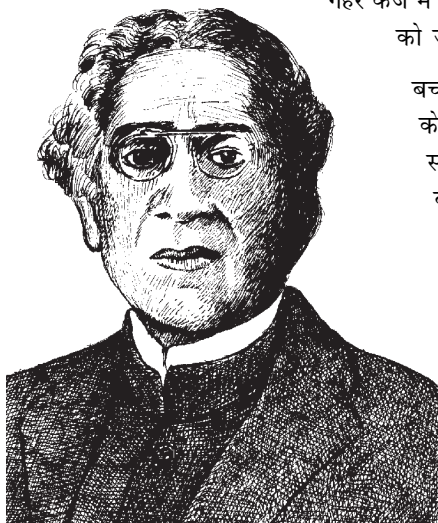
बचपन में जगदीश चंद्र एक बांग्ला माध्यम के स्थानीय स्कूल में पढ़े। यहां उनका सम्पर्क गरीब-अमीर सभी पृष्ठभूमि के बच्चों से हुआ। इसका उन पर जादुई प्रभाव पड़ा और वो जीवन भर जात-पात, ऊंच-नीच और धार्मिक बंधनों से मुक्त रहे। गरीब किसानों के बच्चों से मेलजोल के कारण उन्हें पशुओं, पौधों और पक्षियों से अथाह प्रेम हुआ। शायद बचपन के इसी अनुभव के कारण ही उन्होंनें बाद में पौधों का गहन अध्ययन किया।

1875 में उन्होंनें कलकत्ते के सेंट जेवियर्स स्कूल में दाखिला लिया। स्कूल में वो अपने जेब खर्च के सारे पैसे पौधों और पालतू जीवों पर लुटा देते। 1879 में उन्होंनें सेंट जेवियर्स कॉलेज से विज्ञान की डिग्री प्राप्त की। यहां उनकी भेंट भौतिकी के प्रेरक शिक्षक फादर लाफौंट से हुई। जगदीश इंग्लैंड जाकर इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा देना चाहते थे। परंतु उनके पिता को यह बात रास नहीं आई। वह नहीं चाहते थे कि उनका बेटा अंग्रेजों की नौकरी करे। जगदीश डॉक्टरी सीखे इस बात पर पर पिता राजी हो गए। उन्हें लगा कि डॉक्टर बनकर जगदीश गरीबों की सेवा कर पाएगा।

1880 में जगदीश चंद्र इंग्लैंड गए परंतु वहां पर वो जल्द ही बीमार पड़ गए। बहुत उपचार के बाद भी उनकी काला-अजार की बीमारी ठीक नहीं हुई। मेडिकल पढ़ाई के दौरान चीर-फाड़ के कमरे की तेज गंध से उनकी बीमारी बढ़ने का डर था। इसलिए जगदीश चंद्र को डॉक्टरी की पढ़ाई छोड़नी पड़ी। बाद में उन्होंनें केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के क्राईस्ट चर्च कॉलेज में प्राकृतिक विज्ञान सीखने के लिए दाखिला लिया। यहां उनके शिक्षक विख्यात वैज्ञानिक लॉर्ड रैले थे। जगदीश चंद्र की अपने शिक्षक के साथ गहरी मित्रता हो गई।

1885 में भारत लौटने के बाद उनकी प्रेसीडेंसी कॉलेज में प्रोफेसर के पद पर नियुक्ति हुई। परंतु यहां उनके साथ खुलेआम भेदभाव हुआ। उस समय समान कार्य के लिए भारतीयों को अंग्रेजों की तुलना में केवल दो-तिहाई ही तनख्वाह मिलती थी। जगदीश चंद्र ने इस शोषण का एक अनूठे तरीके से विरोध किया। उन्होंनें तीन साल बिना तनख्वाह लिए तन-मन से काम किया। उनके पिता पहले से ही कर्ज में डूबे थे। 1887 में जगदीश चंद्र का अबला बोस से विवाह हुआ। इससे उनकी आर्थिक जिम्मेदारियां और बढ़ीं। परंतु फिर भी बोस घोर कठिनाईयों का सामना करते हुए बिना तन्ख्वाह के काम करते रहे। अंत में कॉलेज प्रशासन नरम पड़ा और उन्हें पूरे काल की तनख्वाह दी गई। इस राशि से वो पिता का कर्ज चुका पाए।

प्रेसीडेंसी कॉलेज में बोस की साख एक योग्य और लोकप्रिय शिक्षक के रूप में उभरी। भौतिकी से उन्हें बेहद लगाव था और उसका जादू वो छात्रों पर सरल प्रयोगों और मॉडलों से बुनते। बाद में उनके कई छात्र प्रख्यात वैज्ञानिक बने। उनमें जाने-माने भौतिकशास्त्री सत्येंद्र नाथ बोस भी थे। उनके सम्मान में कुछ आणविक कण 'बोसॉन' के नाम से जाने जाते हैं!
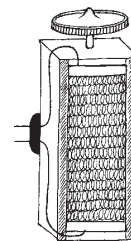
बोस ने इस स्पायरल स्प्रिंग रिसीवर का आविष्कार किया

जगदीश चंद्र बोस द्वारा प्रेसीडेंसी कॉलेज में शोधकार्य करने के सभी प्रयासों पर अंग्रेजों ने अंकुश लगाया। अंत में तंग आकर बोस ने भौतिकी विभाग के गुसलखाने में एक छोटी-सी प्रयोगशाला बनाई। यहां कम-लागत के उपकरणों और यंत्रों से उन्होंनें जेनेरेशन, प्रसारण, अपवर्तन, विवर्तन, पोलरआईजेशन और विद्युत-चुंबकीय तरंगों पर शोध शुरु किया। आज प्रचलित माइक्रोवेव
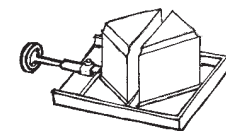
डबल प्रिज्म एटिनुएटर

उपकरणों के कई कल-पुर्जों - वेवगॉइड, लेंस एंटेना, पोलरॉइजर, डाई-इलेक्ट्रिक लेंस, प्रिज्म और डिफरैक्शन ग्रेटिंग्स की झलक हमें पहली बार उनके प्रयोगों में मिलती है। इनमें से कई उपकरणों के वे खुद आविष्कारक थे - इसमें जूट का पोलरआईजर शामिल है! बोस द्वारा गलीना से बनाए रिसीवर को 1904 में पेंटेन्ट भी मिला।

ट्विस्टिड जूट पोलिराईजर

1977 के नोबेल पुरुस्कार विजेता और ट्रांजिस्टर के अविष्कारक प्रो. ब्रिटन के अनुसार बोस वो पहले व्यक्ति थे जिन्होंनें सेमीकंडक्टर का उपयोग कर सर्वप्रथम रेडियो तरंगें पकड़ीं। 1977 के एक अन्य नोबेल पुरुस्कार विजेता नेविल मॉट के अनुसार बोस अपने अनुसंधान में दुनिया से 60 वर्ष आगे थे। उन्होंनें यहां तक कहा कि बोस को 'एन-टॉइप और पी-टॉइप सेमीकंडक्टर के मौजूद होने का पूर्वानुमान था।'

बोस की रुचि घटनाओं के केवल वैज्ञानिक पक्ष में थी उसे पेटेन्ट कर उससे धन कमाने में नहीं। जबकि उनके समकालीन मॉरकोनी की नजर उसके व्यावसायिक पक्ष पर थी। मॉरकोनी ने तत्काल नए आविष्कार की सम्भावनाओं को पहचाना और वॉयरलैस उपकरण निर्माण कर उनसे खूब मुनाफा कमाया।

बोस एक शैक्षिक दौरे पर यूरोप गए जहां उनकी भेंट लॉर्ड केल्विन और फ्रिटजेरल्ड से हुई। यह लोग उस समय के अग्रणी वैज्ञानिक थे। 1897 के आसपास बोस की रुचि में एकदम बदलाव आया। जो रिसीवर (कोहिरर) उन्होंने विकिरण ढूंढ़ने के लिए बनाया था वो कभी 'तेज' और कभी 'मंद' प्रदर्शन दिखाता था। इससे उनका कुतूहल जगा। इसमें उन्हें मनुष्य जैसे ही 'थकान' और 'नई ऊर्जा' का समानता नजर आई। उन्हें लगा जैसे रिसीवर भी आणविक स्तर पर काम, थकान और पुनर्जीवन के चक्र से गुजर रहा हो। इसके आधार पर बोस ने एक शोधपत्र लिखा *'जीवित और अजीवित पदार्थों पर विद्युत का प्रभाव'*। इस शोधपत्र पर लोगों ने तीखी प्रतिक्रिया की। इसके कई दशकों के बाद जब बॉयोफिजिक्स और सॉइबरनेटिक्स का उद्‌गम हुआ तो बोस की बात सही साबित हुई।
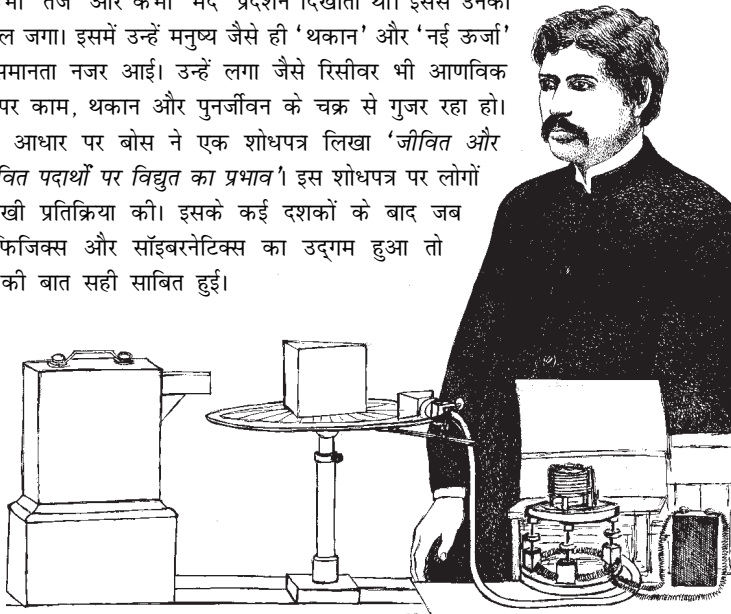
बाद में बोस पौधों और जीवों के बीच समानता खोजने में जुट गए। उनके शोध ने लोगों को आश्चर्यचकित किया। उन्होंनें दिखाया कि जीवों की तरह पौधों में भी स्नायु-तंत्र होता है। जीवों का स्नायु-तंत्र किसी विद्युत धारा, ऊष्मा और रासायनिक उत्तेजना पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। क्योंकि विषय एकदम नया था इसलिए बोस ने स्वयं प्रयोग के लिए कई नए उपकरणों का डिजाइन और निर्माण भी किया। उदाहरण के लिए पौधों की वृद्धि दर नापने का यंत्र - *क्रेसकोग्राफ* । इस उपकरण से पौधों पर रासायनिक खाद और कीटनाशकों के प्रभावों को तेजी से नाप पाना संभव हो पाया।
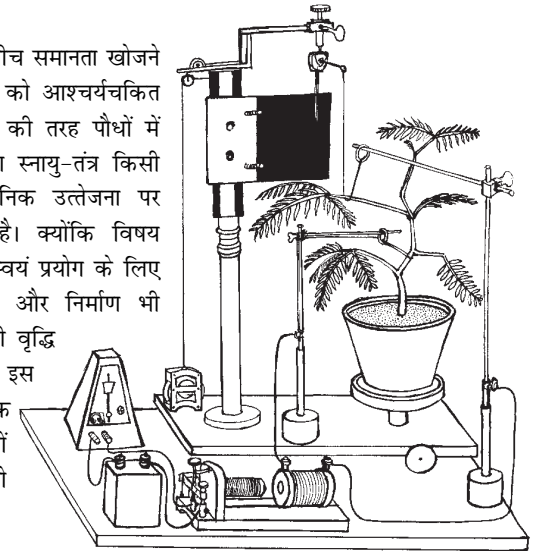
बोस ने विज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए बांग्ला में आम लोगों के लिए ढेरों लेख लिखे। बोस के काल में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन जोरों पर था। एक सच्चे राष्ट्रभक्त होने के नाते बोस उस समय राष्ट्रीय आंदोलन के अग्रणी नेताओं के बहुत समीप आए। इनमें रबीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रफुल्ल चन्द्र रे, और स्वामी विवेकानन्द की ब्रिटिश शिष्या सिस्टर निवेदिता शामिल थीं।

1915 में बोस अपनी शैक्षिक नौकरी से सेवानिवृत्त हुए। 1917 में उन्हें नॉइटहुड के खिताफ से सुशोभित किया गया और वो सर जगदीश चंद्र बोस बन गए। उसी वर्ष अपने जन्मदिन वाले दिन बोस ने बोस रिसर्च इंस्ट्टियूट की स्थापना की। यह संस्था अंत:विषय (इंटरडिसिप्लीनेरी) अनुसंधान को समर्पित थी। रबीन्द्रनाथ ने इस संस्था का कुलगीत रचा। 1920 में बोस रॉयल सोसाइटी की फेलोशिप के लिए मनोनीत किया गया।

23 नवम्बर 1937 को जगदीश चंद्र बोस का देहान्त हुआ। कुछ दिन बाद ही उनका अस्सीवां जन्मदिन था। वो भारत में भावी पीढ़ियों के अनुसरण के लिए एक समृद्ध परम्परा छोड़ गए।

'यकीन नहीं होता कि सादे लिबास और सरल आचरण वाला यह व्यक्ति इतना बड़ा वैज्ञानिक और प्रोफेसर होगा।'

– गांधी

1860–69 के दशक में अपने देश में कई महारथियों ने जन्म लिया – रबीन्द्रनाथ ठाकुर, मोतीलाल नेहरू, मदन मोहन मालवीय और स्वामी विवेकानंद। इस सूची में एक अन्य प्रबुद्ध व्यक्ति का नाम भी शामिल है – प्रफुल्ल चंद्र रे।

प्रफुल्ल चंद्र रे का जन्म 2 अगस्त 1861 को एक गांव में हुआ। यह गांव अब बांग्लादेश के खुलना जिले में स्थित है। शुरु के चंद साल तो प्रफुल्ल ने गांव में ही बिताए। उसके बाद उनके पिता हरीश चंद्र अपने बच्चों की अच्छी शिक्षा की खातिर कलकत्ते आ गए। बचपन से ही समाज सुध रकों का – विशेषकर बह्मो समाज का प्रफुल्ल पर गहरा असर पड़ा। वो प्रेजीडेंसी कॉलेज में पढ़े क्योंकि मेट्रोपौलेटिन कॉलेज (ईश्वर चंद्र विद्यासागर द्वारा स्थापित) में वो सुविधाएं उपलब्ध नहीं थीं। उस जमाने में एफ ए (फॉइन ऑर्ट्स) की डिग्री के लिए रासायन शास्त्र का विषय अनिवार्य था। 1882 में अत्यंत कठिन परिश्रम के बाद प्रफुल्ल ने गिलक्रिस्ट स्कॉलरशिप जीता और विज्ञान की आगे की पढ़ाई के लिए एडिनब्रा गए। वहां पर मशहूर रासायन शास्त्री ए.सी. ब्राउन उनके प्रिय टीचर और गॉइड बने। 1887 में

प्रफुल्ल ने डाक्ट्रेट ऑफ फिलासफी की डिग्री हासिल की। उसके बाद उन्होंने 'होप' पुरुस्कार जीता और यूनिवर्सिटी की केमिकल सोसाइटी के उपाध्यक्ष बने। एडिनब्रा प्रवास के दौरान उन्हें केमिस्ट्री यानी रासायन शास्त्र से गहरा प्रेम हो गया।
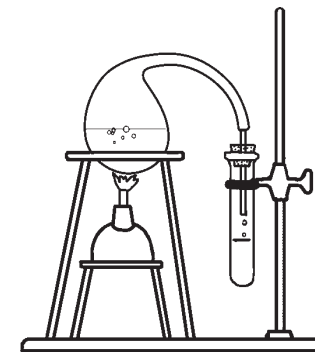
1888 में जब वो भारत लौटे तो उन्हें यूनिवर्सिटी की नौकरी ढूंढ़ने में दिक्कत हुई। उस समय यूनिवर्सिटी में नौकरियों अंग्रेजों के लिए आरक्षित होती थीं। बाद में उन्हें प्रेसीडेंसी कॉलेज में नौकरी मिली जहां पर उन्होंनें पूरे 27 वर्ष पढ़ाया। रे अपनी कक्षा में तमाम वैज्ञानिक प्रयोग दिखाते। इससे उनकी कक्षाएं प्रेरक और प्रभावी बनतीं। उनके दो विलक्षण छात्रों – मेघनाद साहा और सत्येंद्र नाथ बोस ने बाद में विज्ञान में मौलिक योगदान दिया। कई अन्य होशियार छात्र – नील रत्न घोष, जे.सी. घोष आदि प्रफुल्लचंद्र रे की ओर आकर्षित हुए और इस प्रकार रासायन शास्त्र के पहले भारतीय स्कूल का जन्म हुआ। धीरे-धीरे इसकी ख्याति दूर-दूर तक फैली।

रेडियो-तरंगों के आविष्कारक जगदीश चंद्र बोस कॉलेज में रे से तीन साल सीनियर थे। बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में यह दोनों मित्र भारतीय विज्ञान के कर्णधार थे।

इंग्लैंड प्रवास के दौरान रे विज्ञान और उद्योग के बीच के सम्बंध को अच्छी तरह समझ पाए थे। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की रुचि केवल भारत के कच्चे माल में थी, यहां पर उद्योग स्थापित करने में नहीं। यह काम रे ने किया। उन्होंनें दवाईयां, रासायन और कई काम की वस्तुएं बनाने पर अनुसंधान किया और सन 1901 में बंगाल केमिकल एन्ड फार्मास्यूटिकल की स्थापना की। यह कंपनी आज भी कार्यरत है। यह काम बहुत कठिन था। नींबू से साइट्रिक अम्ल बनाने का उनका प्रयास असफल रहा। गंधक अम्ल को व्यवसायिक स्तर पर बनाने में भी वो असफल रहे। अंत में वो जानवरों की हड्डियों से कास्टिक सोडा बनाने में कामयाब हुए। इस सिलसिले में उन्हें कई बार पुलिस को सफाई देनी पड़ी कि वो मनुष्यों की हड्डियां नहीं उपयोग कर रहे हैं! पर उनके इन प्रयासों के अनेकों लाभ हुए। जैसे-जैसे उनकी कम्पनी ने तरक्की की वैसे-वैसे अन्य लोग भी उद्योग लगाने के लिए प्रेरित हुए। रे ने चीनी-मिट्टी (सेरेमिक), साबुन और डिब्बा बन्द फलों के उद्योग भी लगाए।

Undaunted spirit, true grit and passion saw the rise of a formidable organisation, which later became Bengal Chemicals & Pharmaceuticals Ltd. as we know it today.

रे के शोध का क्षेत्र काफी व्यापक था। शुरु में उन्होंनें भोजन में मिलावट के विषय पर काम किया। पीरियाडिक टेबल के अज्ञात तत्वों को ढूंढ़ते हुए उन्होंनें मरक्यूरस नाइट्रेट को खोज निकाला। कई सालों तक उन्होंने उस पर शोध किया। उन्होंने 100 से भी अधिक शोधपत्र लिखे।

रे ने स्कूलों और कॉलेजों में मातृभाषा में शिक्षण की पुरजोर पैरवी की। बांग्ला भाषा की उन्नति के लिए कार्य करने के कारण वो 1931-34 तक बंग साहित्य परिषद के अध्यक्ष बने रहे। रे की इतिहास और साहित्य में गहरी रुचि थी। वो आधा दर्जन विदेशी भाषाओं में भी पारंगत थे। उन्हें अक्सर लगता कि *'वो गल्ती से केमिस्ट बन गए'।*

रे एक प्रबुद्ध वैज्ञानिक थे। वे प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक उपलब्धियों को उजागर करना चाहते थे जिससे आम लोगों को अपनी विरासत और परम्पराओं पर गर्व महसूस करें। उन्होंनें द *हिस्ट्री ऑफ हिन्दू केमिस्ट्री* के दो खंड लिखे। उन्होंनें *लाईफ एंड एक्सपीरियेंसिस ऑफ ए बेंगाली केमिस्ट* के नाम से अपनी आत्मकथा भी लिखी।

एक व्यक्ति अपने जीवनकाल में क्या-क्या हासिल कर सकता है रे की जिंदगी इस बात की एक अद्वितीय मिसाल थी। 1916 में वो प्रेसीडेंसी कॉलेज से सेवानिवृत्त हुए। अगले 20 सालों तक वो सर आशुतोष मुखर्जी के आग्रह पर कलकत्ता विश्वविद्यालय के एक नए कॉलेज ऑफ साइन्स में केमिस्ट्री पढ़ाते रहे। उनके छात्रों ने रासायनिक शास्त्र के कई क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

रे ने नई और पुरानी दोनों परम्पराओं को गले लगाया। वो एक आम भारतीय जैसे कपड़े पहनते थे। उन्हें भारत की प्राचीन परम्परा पर अपार गर्व था। उनका रहन-सहन एकदम सादा, बिल्कुल गांधीजी जैसा था। सारी जिंदगी वो कॉलेज के ऊपर स्थित एक कमरे में रहे। इसी कमरे में उनके साथ कई गरीब छात्र भी रहते जिनकी फीस वो खुद भरते थे। उन्होंनें जाति-भेद मिटाने और विधवाओं के पुन: विवाह के लिए काम किया। अकाल और बाढ़ जैसी आपदाओं में वो मदद करने के लिए सबसे आगे रहते। वो अविवाहित रहे और जीवन भर जनकल्याण के लिए काम करते रहे। उनके प्रिय छात्रों ने उनको 'आचार्य' की उपाधिदी।
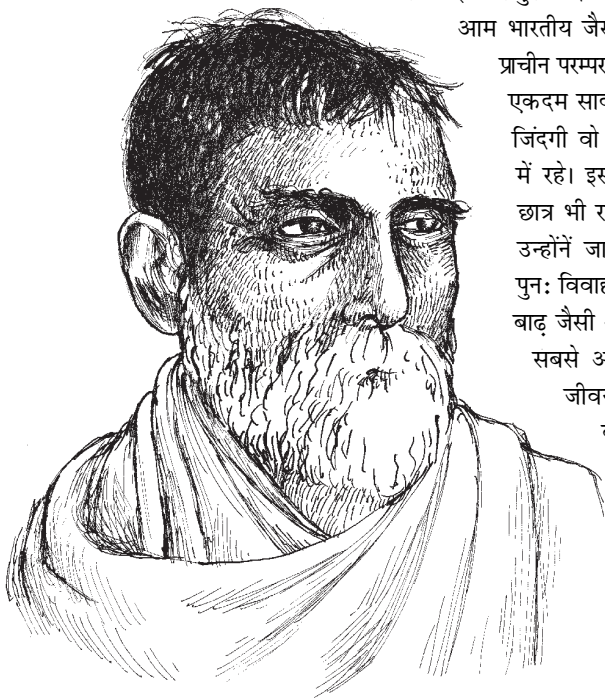
1919 में उन्हें नॉइटहुड से सम्मानित किया गया। 1934 में उन्हें लंदन केमिकल सोसाइटी का सदस्य मनोनीत किया गया। कई यूनिवर्सिटियों ने भी उन्हें सम्मानित किया। 1924 में स्थापित इंडियन केमिकल सोसाइटी ने उन्हें अपना पहला अध्यक्ष चुना।

सर सी. वी. रमन और रे ने कुछ समय तक साथ-साथ एक ही संस्था में काम किया। रमन के काम से रे बेहद प्रभावित थे और रमन के नोबेल पुरुस्कार पाने से बहुत पहले ही उन्होंनें यह उद्घोषणा की थी, *'अगर इस संस्था ने केवल एक रमन पैदा करने के अलावा और कुछ नहीं किया होता तो भी उसने अपने संस्थापकों की उम्मीदें पूरी की होतीं।'*

प्रफुल्ल चंद्र रे का देहान्त 16 जून 1944 को हुआ। अपने जीवनकाल में रे ने अपने देश और देशवासियों को बहुत प्रगति करते हुए देखा। इस दौरान उनके बहुत से सपने साकार हुए अपने परंतु देश को आजाद होते हुए वो नहीं देख पाए। पर उनके द्वारा तैयार की वैज्ञानिकों की नई पीढ़ी ने स्वाधीन भारत में रासायन शास्त्र के अनुसंधान को बहुत आगे बढ़ाया। इन वैज्ञानिकों ने प्रफुल्ल चंद्र रे को *'फादर ऑफ इंडियन केमिस्ट्री'* का खिताब दिया। जुलाई 1944 में *नेचर* पत्रिका ने अपनी श्रद्धांजलि में लिखा, *'भारत में पिछले पचास साल में हुई वैज्ञानिक प्रगति का सबसे अधिक श्रेय सर प्रफुल्ल को है।'*
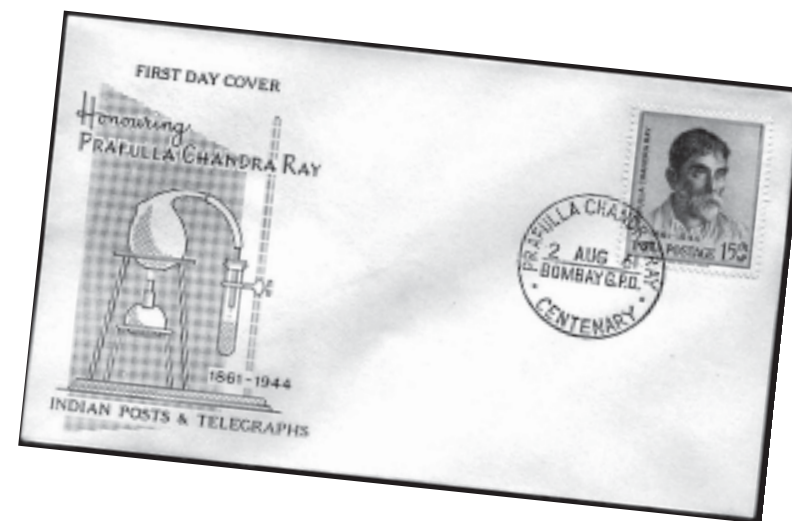
रुचि राम साहनी

(1863 - 1948)

रुचि राम साहनी एक प्रबुद्ध शिक्षाविद थे उन्होंनें पंजाब के दूर-दराज इलाकों में विज्ञान के प्रसार का महत्वपूर्ण काम किया। उनका जन्म 5 अप्रैल 1863 को डेरा इस्माइल खान नाम के छोटे शहर में हुआ था। यह शहर अब पाकिस्तान में है। कुछ समय तक एक अनौपचारिक स्कूल में पढ़ने के बाद 5-6 बरस की उम्र में उन्हें व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिए एक दुकान में भेज दिया गया।

'मैं एक पंडे से गणित सीखता था। हरेक पहाड़े को याद करके बिना रुके सुनाने पर मेरे पिताजी पंडे को चार आने देते थे। यह ऊपर की फीस थी। आमतौर पर बाकी छात्र पंडे को हर हफ्ते आटा, गुड़ आदि देते थे। पंडे से विदा लेते समय मुझे 20 गुणा 35 तक के पहाड़े और भिन्न भी मुंह-जुबानी याद हो गए थे।
पढ़ाई के बाद मुझे एक-दो महीने एक दुकानदार के साथ बिताने पड़े जहां मुझे सीखे पहाड़ों को वास्तविक परिस्थितियों में लागू करने का मौका मिला। जहां तक मुझे याद है चीजों के हिसाब-किताब जोड़ने में मुझे कोई दिक्कत नहीं हुई। इस ट्रेनिंग का उद्देश्य मुझे रोजमर्रा की जिंदगी में गणित के महत्व को समझाना था। पहाड़ें महज रटने की चीज नहीं थे। उनका जीवन से सरोकार था और कुछ गलती करने पर धंधे में नुकसान हो सकता था। सही और तेजी से हिसाब लगा पाना व्यापार की उन्नति के लिए जरूरी था।'
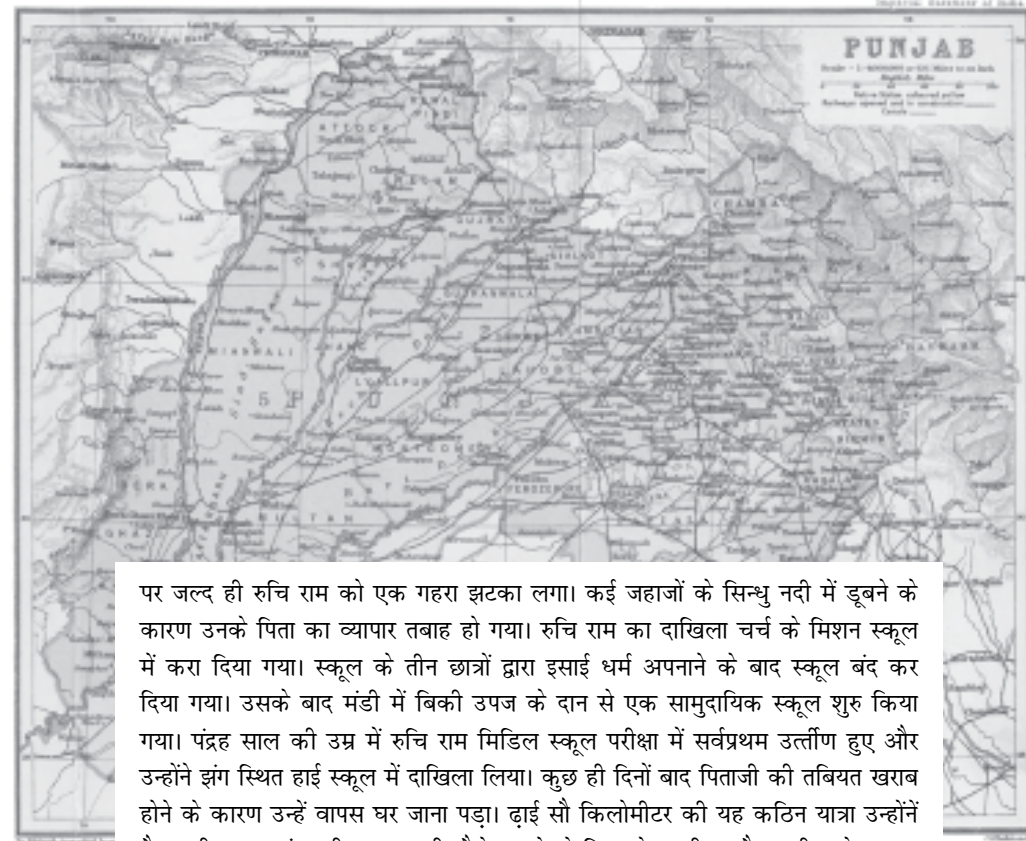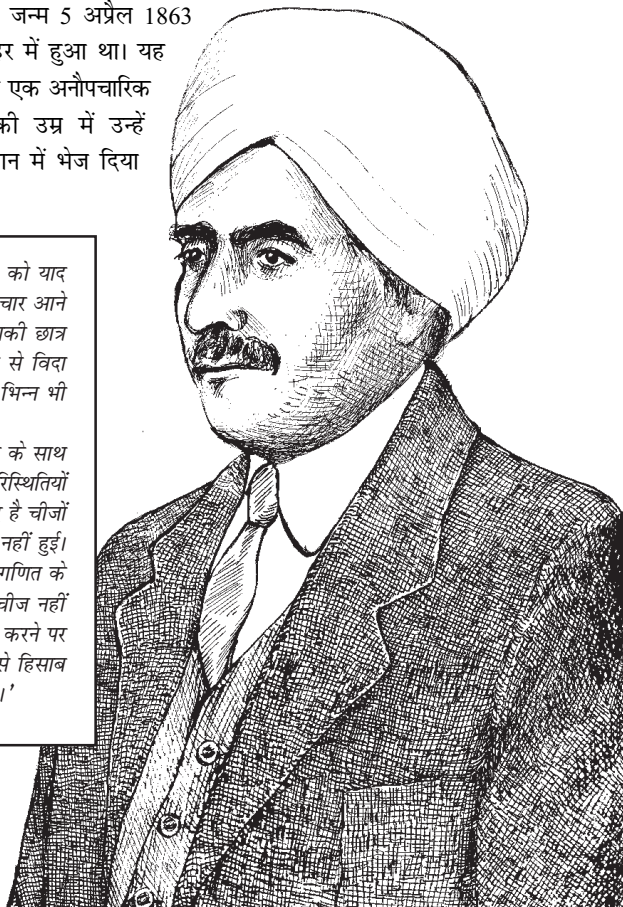
पर जल्द ही रुचि राम को एक गहरा झटका लगा। कई जहाजों के सिन्धु नदी में डूबने के कारण उनके पिता का व्यापार तबाह हो गया। रुचि राम का दाखिला चर्च के मिशन स्कूल में करा दिया गया। स्कूल के तीन छात्रों द्वारा इसाई धर्म अपनाने के बाद स्कूल बंद कर दिया गया। उसके बाद मंडी में बिकी उपज के दान से एक सामुदायिक स्कूल शुरु किया गया। पंद्रह साल की उम्र में रुचि राम मिडिल स्कूल परीक्षा में सर्वप्रथम उर्त्तीण हुए और उन्होंने झंग स्थित हाई स्कूल में दाखिला लिया। कुछ ही दिनों बाद पिताजी की तबियत खराब होने के कारण उन्हें वापस घर जाना पड़ा। ढ़ाई सौ किलोमीटर की यह कठिन यात्रा उन्होंनें बैलगाड़ी, नाव, ऊंटगाड़ी पर तय की। पैसे बचाने के लिए वो लम्बी दूर पैदल ही चले। 1879 में उनके पिता का देहान्त हो गया जिससे परिवार पर आर्थिक संकट के बादल छा गए। रुचि राम ने अपनी पढ़ाई जारी रखी। 1884 में उन्होंनें गवरमेंट कॉलेज लाहौर से बीए की परीक्षा पास की और यूनिवर्सिटी में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया। रुचि राम वाद-विवाद प्रतियोगिताओं के अलावा अन्य तमाम गतिविधियों में भाग लेते थे।

आर्थिक कारणों से रुचि राम ने कलकत्ते के मौसम विभाग में नौकरी की। उनके प्रेरक शिक्षक प्रोफेसर ओमन ने उन्हें नौकरी के साथ-साथ कलकत्ते के प्रसिद्ध प्रेसिडेंसी कॉलेज से एम ए की डिग्री हासिल करने की सलाह दी। कलकत्ते में रहते हुए रुचि राम ब्रह्मो समाज के कार्य की ओर आकर्षित हुए जहां पर आशुतोष मुखर्जी, प्रफुल्लचंद्र रे और जगदीश चंद्र बोस जैसे वैज्ञानिकों और समाज सुधारकों से उनका मेलजोल बढ़ा। कुछ समय बाद रुचि राम का तबादला मौसम विभाग के मुख्यालय शिमला में हुआ। यहां वो 'दैनिक' और 'मासिक' मौसम रिपोर्ट बनाते थे। एक बार उन्होंनें बंगाल की खाड़ी में आने वाले तूफान की भविष्यवाणी की और बहुत से जहाजों को नष्ट होने से बचाया।

1887 में साहनी ने गवरमेंट कॉलेज लाहौर में असिस्टेंट प्रोफेसर के पद पर विज्ञान पढ़ाना शुरु किया। बाद में वो केमेस्ट्री डिपार्टमेंट के विभाग अध्यक्ष बने। वो अपने लेक्चर्स को विज्ञान के मॉडल और प्रयोगों द्वारा जीवांत और लोकप्रिय बनाते। एक ब्रिटिश प्रोफेसर साहनी की लोकप्रियता से जलते थे और उन्होंनें रुचि राम को परेशान करने की कोई कसर नहीं छोड़ी। अंत में साहनी ने नौकरी छोड़ दी और केमिकल्स बनाने की फैक्ट्री शुरु की जो उन्हें जल्द ही बन्द करनी पड़ी। 1914 में साहनी डॉ. फाजन्स के साथ रेडियो धर्मिता के उभरते क्षेत्र में शोध करने के लिए जर्मनी गए। परंतु वहां पहुंचने के तुरंत बाद ही प्रथम महायुद्ध शुरु हो गया और उन्हें इंग्लैंड भागना पड़ा।

इंग्लैंड में सौभाग्य से साहनी को विश्व विख्यात भौतिकशास्त्री लार्ड रदरफोर्ड और नील्स बोहर के साथ काम करने का मौका मिला। उन्होंनें रदरफोर्ड के साथ संयुक्त रूप से अल्फा कणों के स्कैटरिंग पर दो शोधपत्र लिखे। युद्ध की वजह से इंग्लैंड में भी परिस्थिति खराब होने के कारण उन्हें जल्द ही भारत वापस लौटना पड़ा।

लौटने के बाद साहनी ने पंजाब साइन्स इंस्टिट्यूट (पीएसआई) के संयुक्त सचिव का पद संभाला। इस संस्था की स्थापना प्रोफेसर ओमन ने की थी। संस्था का उद्देश्य पूरे पंजाब में विज्ञान का प्रचार-प्रसार - लोकप्रिय भाषणों, प्रयोगों और लालटेन के स्लाइड्ज द्वारा करना था। उन दिनों पंजाब की सीमा दिल्ली से लेकर पेशावर तक फैली थी। शिमला में काम करते समय साहनी ने 'मौसम की भविष्यवाणी' पर कुछ लेक्चर दिए थे। यह लेक्चर आम लोगों को बहुत पसंद आए। चाहें गांव हो या शहर, मजदूर और दुकानदार सभी इन लेक्चरों को सुनने के लिए भारी मात्रा में इकट्ठे होते और दो-आने का टिकट खरीद कर आनंद से विज्ञान का शो देखते। इस फीस से आने-जाने का कुछ खर्च निकल जाता। साहनी के लेक्चर आम, रोजमर्रा की चीजों और घटनाओं पर होते जैसे - 'साबुन निर्माण' '1880 पूर्व लाहौर में पानी के स्रोत' 'स्वच्छ और गन्दी हवा' 'मनुष्य की सेवा में विद्युत' 'इलेक्ट्रो-प्लेटिंग' 'कांच निर्माण' 'पंजाब और उसकी नदियां' (इसे वो एक मिट्टी के तीन-आयामी नक्शे द्वारा समझाते)।

विज्ञान के यह लोकप्रिय लेक्चर्स अक्सर छोटे शहरों और गांवों में खूब भीड़ इकठ्ठा करने के लिए त्यौहारों के समय आयोजित किए जाते थे। लेक्चर्स को आकर्षक बनाने के लिए उन्हें सिनेमा जैसे पर्दे पर प्रोजेक्ट किया जाता था। इन लेक्चर्स की वजह से लोगों की विज्ञान में बहुत रुचि बढ़ी। साहनी के लेक्चर्स के लिए जनता की भारी मांग रहती और उन्होंनें कुल मिलाकर 500 से अधिक लेक्चर दिए!

हाल ही में रुचि राम साहनी की जीवनी को विज्ञान प्रसार ने छापा है।

स्कूलों और कॉलेजों में प्रयोगशालाओं का अभाव साहनी को बहुत अखरता था। उस जमाने में विज्ञान के सभी उपकरण विदेशों से आयात किए जाते थे। 1888 में उन्होंनें अपने ही घर में विज्ञान उपकरण बनाने की एक वर्कशाप स्थापित की। उसके लिए उन्होंनें रेल्वे के एक तकनीशियन अल्ला बख्श को नियुक्त किया। यहां बने विज्ञान के उपकरणों को स्कूलों में या तो मुफ्त में या फिर लागत कीमत में दे दिया जाता था जिससे कि छात्रों और शिक्षकों में विज्ञान के प्रयोग करने की प्रवृत्ति बढ़े। बाद में इस वर्कशाप में एक खराद-मशीन (लेथ) लगी और धीरे-धीरे उसकी ख्याति उच्च-कोटि के वैज्ञानिक उपकरण निर्माता के रूप में फैली। 1906 में कलकत्ते में लगी एक औद्योगिक प्रदर्शनी में इन विज्ञान के मॉडल्स को स्वर्ण पदक मिला। प्रतियोगिता के जजों की टीम में प्रोफेसर जगदीश चंद्र बोस भी थे।

1983 में प्रोफेसर साहनी को जाने-माने सामाजिक कार्यकर्ता श्री नामजोशी ने एक कांफ्रेंस के लिए पूना बुलाया। साहनी ने इस मौके पर अपने द्वारा बनाए सभी वैज्ञानिक उपकरणों की प्रदर्शनी लगाई। तीन लोगों की एक उच्च स्तरीय समिति को इस प्रदर्शनी पर अपनी सिफारिशें पेश करने को कहा गया। यह सारे उपकरण लाहौर या भारत में बनें हैं इस बात पर सदस्यों को यकीन ही नहीं हुआ। उन्हें उपकरण इंग्लैंड निर्मित लगे। समिति को लगा कि (पीएसआई) ने बस उन पर भारतीय वारनिश पोतकर उन्हें मेड-इन-इंडिया जैसा रूप दिया है! समिति को यह विश्वास ही नहीं हुआ कि इतने उत्तम वैज्ञानिक उपकरण भारत में आधी कीमत पर बनाए जा सकते थे।

1918 में साहनी गवरमेंट कॉलेज लाहौर में केमिस्ट्री के वरिष्ठ प्रोफेसर के पद से रिटायर हुए। तभी उनका सम्पर्क महात्मा गांधी से हुआ और उसके बाद वो सक्रिय रूप से राष्ट्रीय आंदोलन में जुड़े। वो लाहौर से प्रकाशित होने वाले अखबार *ट्रब्यून* के ट्रस्टी थे। वो *दयाल सिंह कॉलेज और लाइब्रेरी* के भी संस्थापक थे।

प्रोफेसर साहनी के तीन बेटे और पांच बेटियां थीं। उनके पुत्र बीरबल साहनी प्रसिद्ध जीवाश्म विशेषज्ञ थे और एफआरएस से नवाजे जाने वाले पहले भारतीय वनस्पतिशास्त्री थे। अपनी आत्मकथा *'सेल्फ रेवेलेशन्स ऑफ एन ऑक्टोजिनेरियन'* में रुचि राम साहनी ने अपने जीवन के संघर्षों का विस्तृत वर्णन किया है। उनके पोते प्रोफेसर अशोक साहनी, पंजाव विश्वविद्यालय के भूविज्ञान विभाग में प्रसिद्ध भू-वैज्ञानिक थे। उनकी पोती प्रोफेसर मोहिनी मलिक ने आईआईटी कानपुर में छात्रों की कई पीढ़ियों को तर्कशास्त्र के नुस्खे सिखाए। पंजाब में विज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए अथक काम करने वाले प्रोफेसर रुचि राम साहनी का देहान्त 87 वर्ष की उम्र में 3 जून 1948 को बम्बई में हुआ।

डी. एन. वाडिया

(1883 - 1969)

दाराशाह नौशेरवान वाडिया भारत के सबसे प्रबुद्ध भू-शास्त्री थे। उन्होंनें देश में भू-विज्ञान की नींव रखी। भारतीय भू-शास्त्र पर उनका शोध और दृष्टिकोण आज भी सर्वमान्य है।

वाडिया का जन्म 23 अक्टूबर 1883 को सूरत में हुआ। वो अरदासिर कुरसेतजी के परिवार के थे। अरदासिर कुरसेतजी सुप्रसिद्ध जहाज डिजाइनर थे और एफआरएस से सम्मानित किए जाने वाले पहले भारतीय थे। वाडिया के पिता स्टेशन मास्टर थे और उनकी पोस्टिंग एक दूर-दराज स्थित स्टेशन पर थी। वहां अच्छे स्कूल न होने के कारण वाडिया अपनी दादी के साथ सूरत में रह कर ही पढ़े। शुरु में वो एक गुजराती स्कूल में पढ़े और फिर सर जे जे इंग्लिश स्कूल में। जब वो ग्यारह वर्ष के थे तब उनका परिवार बड़ौदा शिफ्ट हुआ। यहां पर उनका विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टिकोण की ओर लगाव बढ़ा। इसमें उनके बड़े भाई का अहम रोल था।

1903 में वाडिया ने वनस्पतिशास्त्र और जीवशास्त्र में बीएससी की डिग्री हासिल की। 1906 में एमएससी के दौरान उनके विषय जीवशास्त्र और भू-शास्त्र थे। बड़ौदा कॉलेज में उनकी भू-विज्ञान में रुचि पैदा करने का श्रेय उनके शिक्षक ए.एम. मसानी को जाता है। मसानी को प्रकृति से गहरा लगाव था और वो प्राकृतिक विज्ञान के प्रोफेसर थे। बड़ौदा की म्यूजियम ऑफ आर्ट और साइन्स में जियोलिजी के ढेरों नमूनों का भी वाडिया ने भरपूर उपयोग किया।

नंगा पर्बत

1907 में वाडिया ने जम्मू स्थित प्रिंस ऑफ वेल्स कॉलेज में 14 वर्ष तक जियोलिजी के प्रोफेसर के पद पर काम किया। बाद में इस कॉलेज का नाम बदल कर महात्मा गांधी कॉलेज हो गया और वो जम्मू विश्वविद्यालय के आधीन हो गया। जियोलिजी के साथ-साथ वाडिया अंग्रेजी भी पढ़ाते थे। उनकी अंग्रेजी पर जोरदार पकड़ थी। जम्मू में रहते हुए वाडिया ने अपनी हरेक छुट्टी में हिमालय की पहाड़ियों की सैर की और वहां के भू-शास्त्र की जानकारी हासिल की। उन्होंनें खनिज, पत्थर, जीवाश्म इकट्ठे किए और इन नमूनों द्वारा जियोलिजी की पढ़ाई को रोचक बनाया।

वो अपने छात्रों को शिवालिक पर्वतमाला और जम्मू क्षेत्र में अनुसंधान के लिए घुमक्कड़ी करने ले जाते। अपनी सधी हुई निगाह से वो बहुत सी दुर्लभ वस्तुओं को खोज पाए। एक ऐसे ही परिभ्रमण के दौरान उन्होंनें एक तीन मीटर लम्बा भीमकाय जीवाश्म – *स्टेगेडॉन गणेशा* ढूंढ निकाला। यह खोज बहुत महत्वपूर्ण साबित हुई। हिमालय पर्वतमाला की रचना और भू-शास्त्र को समझने के लिए वाडिया ने अथक प्रयास किए। वाडिया पहले व्यक्ति थे जिन्होंनें उत्तर-पश्चिमी हिमालय में पत्थर निर्माण की एक असामान्य श्रेणी पर दुनिया का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंनें नंगा पर्बत के इर्द-गिर्द स्थित पर्वतमाला में एक अनूठे मोड़ 'नी-बेंड' भी खोजा। हिमालय के संशोधन पर पूरी तरह समर्पित वाडिया अंततः देहरादून

में इंस्टिट्यूट फॉर हिमालियन जियोलिजी स्थापित करने में सफल हुए। 1968 से एक वर्ष तक वो उसके संस्थापक निदेशक भी रहे। बाद में उनकी याद में संस्था का नाम बदल कर वाडिया इंस्टिट्यूट फॉर हिमालियन जियोलिजी कर दिया गया। उन्होंनें कई अन्य राष्ट्रीय स्तर की संस्थानों के स्थापन में अहम भूमिका निभाई इनमें नैशनल जियोफिजिकल रिसर्च इंस्टिट्यूट, हैदराबाद और गोवा स्थित नैशनल इंस्टिट्यूट ऑफ ओशिनोग्राफी प्रमुख हैं।

1921 में वाडिया ने प्रिंस ऑफ वेल्स कॉलेज छोड़ कर जियोलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया (जीएसआई) में सहायक सुप्रिंटेंडेन्ट का पद संभाला। उस समय उनकी उम्र मात्र 38 साल की थी। वो पहले भारतीय थे जो बिना किसी यूरोपीय डिग्री के जीएसआई में भर्ती हुए। जीएसआई में काम करने से उन्हें उत्तर-पश्चिमी हिमालय में शोधकार्य का भरपूर मौका मिला और उन्होंनें यहां बहुत बुनियादी काम किया। आर.डी. वेस्ट ने वाडिया के काम के बारे में लिखा: *'वाडिया हिमालय में जहां भी गए उन्होंनें वहां शैल-विज्ञान की अनसुलझी समस्याओं पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला।'*

वाडिया ने भू-शास्त्र सम्बंधी लगभग सौ शोध-पत्र लिखे। 1928 में उन्होंनें एक जीवाश्म खोपड़ी *एक्टीनोडॉन* खोज निकाली। यह खोज कश्मीर में पहाड़ों निर्माण के युग को निश्चित करने में सफल रही। वो तांबे, निकिल, सीसे और जस्ते जैसे खनिजों के अपार भंडार खोजने में भी सफल रहे।

जियोलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया में काम करते समय वाडिया ने अपनी छुट्टियां ब्रिटिश म्यूजियम में बितायीं। यहां उन्होंनें कश्मीर में खोजे रीढ़ वाले प्राणियों के जीवाश्मों पर शोध किया। इसी दौरान उन्होंनें जर्मनी, ऑस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया में स्थित तमाम भू-विज्ञान से सम्बंधित संस्थाओं का दौरा भी किया।

मृदा विज्ञान (सॉइल साइंस) की नजरंदाजी पर वाडिया को दुख हुआ और उन्होंनें इसको ठीक करने के लिए खुद ठोस कदम उठाए। 1935 में, एम.एस. कृष्णन और पी.एन. मुखर्जी की मदद से उन्होंनें पहली बार *सॉइल मैप ऑफ इंडिया* संकलित किया। इसे जियोलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया ने प्रकाशित किया। इस पहल के बाद लगातार इस प्रकार के नक्शे छपते रहे।

जियोलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया से सेवानिवृत्ति के बाद वाडिया ने श्रीलंका (तब सीलोन) में खनिज-वैज्ञानिक का पद संभाला। उन्होंनें श्रीलंका द्वीप के उत्तम जियोलाजिकल नक्शे तैयार करवाए। उन्होंनें पानी सप्लाई, बांध निर्माण और अन्य इंजीनियरिंग प्रोजेक्ट्स की भूभर्गीय जांच-पड़ताल भी की। वाडिया ने कोलम्बो का पहला जियोलाजिकल नक्शा तैयार किया।

1947 में वाडिया ने इंडियन ब्यूरो ऑफ माइन्स की स्थापना की और 1949 में एटामिक मिनिरल्स डिविजन की नींव रखी। वो एक ऐसी राष्ट्रीय नीति के पक्षधर थे जिसके अंर्तगत देश के खनिजों, पानी, गैस और तेल सम्पदा का समुचित दोहन हो सके। उन्हें पुस्तकों से

प्रेम था और उन्होंनें भारतीय भू-विज्ञान पर पहली पुस्तक लिखी। इस पुस्तक को बहुत प्रसिद्धी मिली और 1966 तक इसका छठवां संस्करण बिक चुका था। इस पुस्तक पर टिप्पणी करते हुए विख्यात भू-वैज्ञानिक के एक वाल्डिया ने लिखा: *'द जियोलिजी ऑफ इंडिया को 1919 में मैकमिलन, लंदन ने छापा। पुस्तक में सम्पूर्ण भारतीय महाद्वीप - पाकिस्तान, भारत, बांग्लादेश, म्यांमार और श्रीलंका के भू-विज्ञान का निचोड़ है और इसमें वाडिया के ज्ञान और गहरे शोध की साफ झलक मिलती है। इस क्लासिक पुस्तक ने न केवल वाडिया को यशस्वी बनाया उन्हें साथ-साथ दुनिया की कई पीढ़ियों के लिए जियोलिजी का गुरु भी बनाया।'* वाडिया काम में बहुत मेहनतकश और चुस्त थे और उन्होंनें सारी जिंदगी बहुत सादगी में गुजारी।

1945 में जवाहर लाल नेहरु की राष्ट्रीय सरकार ने वाडिया को भू-विज्ञान परामर्शदाता के पद पर नियुक्त किया। वाडिया ने ही देश की खनिज नीति की नींव रखी। 1963 में भारत सरकार ने उन्हें पहले नैशनल प्रोफेसर ऑफ जियोलिजी का पद पर आसीन किया। भारत सरकार ने उन्हें 1958 में पद्म भूषण से सम्मानित किया। 1957 में वाडिया फेलो ऑफ द रॉयल सोसाइटी, लंदन के सदस्य मनोनीत हुए। उन्हें तमाम राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय पदकों से सम्मानित किया गया और कई विश्वविद्यालयों ने उन्हें डॉक्टरेट की उपाधियां दीं।

वाडिया ने कई उम्दा लोकप्रिय वैज्ञानिक लेख भी लिखे। उनमें *'स्टोरी ऑफ स्टोन'* वाकई में बेमिसाल है। यह एक पत्थर की आत्मकथा है। इस कहानी को पढ़ते हुए भू-विज्ञान की जटिलताएं सहजता से समझ में आ जाती हैं। ऐसा लगता है कि पत्थर की भी जुबान होती है। भारतीय भू-विज्ञान की नींव रखने वाले इस महारथी का देहान्त 86 वर्ष की आयु में 15 जून 1969 हो हुआ।

वाडिया के सम्मान में छपा डाक टिकट

हिमालय में स्थित नंगा पर्बत का एक भू-वैज्ञानिक नक्शा
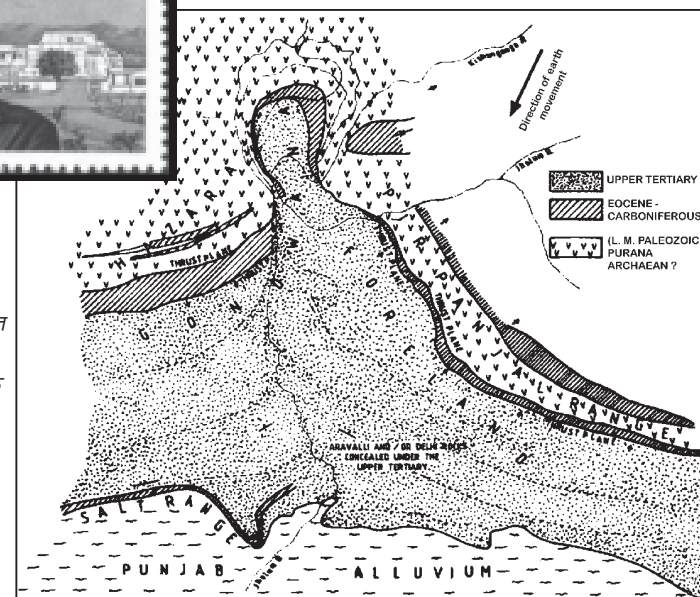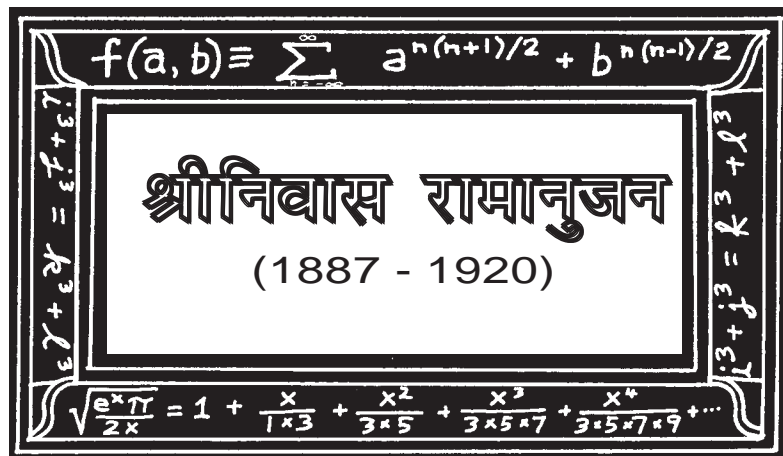
'हमारे देश में भास्कराचार्य के आठ सौ साल बाद केवल एक अन्य विश्व-स्तरीय गणितज्ञ पैदा हुआ। उसका नाम था रामानुजन और वो कॉलेज का प्रथम वर्ष भी पास नहीं कर पाया। भारत ने उसे जन्म, भुखमरी, क्षयरोग और असामयिक मृत्यु दी। ब्रिटिश गणितज्ञ हार्डी को इस बात का पूरा श्रेय है कि उन्होंनें रामानुजन की विलक्षणता को पहचाना और उन्हें इंग्लैंड बुलाकर उनकी प्रतिभा को फलने-फूलने दिया।'
– दामोदर धर्मानंद कोसंबी

भारतीय गणितज्ञ रामानुजन ने घोर गरीबी और शिक्षा के अभाव में भी गणित के क्षेत्र में विश्वस्तरीय काम किया। आज उनका नाम दुनिया के चोटी के गणितज्ञों में गिना जाता है।

रामानुजन का जन्म 22 दिसम्बर 1887 को मद्रास से 400 किलोमीटर दूर स्थित इरोड में हुआ। उनके पिता एक साड़ी की दुकान में नौकरी करते थे। घर में गरीबी का बोलबाला था। रोजमर्रा की चीजों की जुगाड़ कर पाना भी बड़ा दुश्वार था। रामानुजन की मां कोमलथाअम्मल अपने विचारों की पक्की थीं और अपने बेटे के उत्थान के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ थीं। उनसे रामानुजन ने गहरी धार्मिकता सीखी जो सारी जिंदगी उनके जीवन का अभिन्न अंग रही। रामानुजन पास के शहर कुम्भकोणम में अपनी ननिहाल में ही पले-बढ़े।
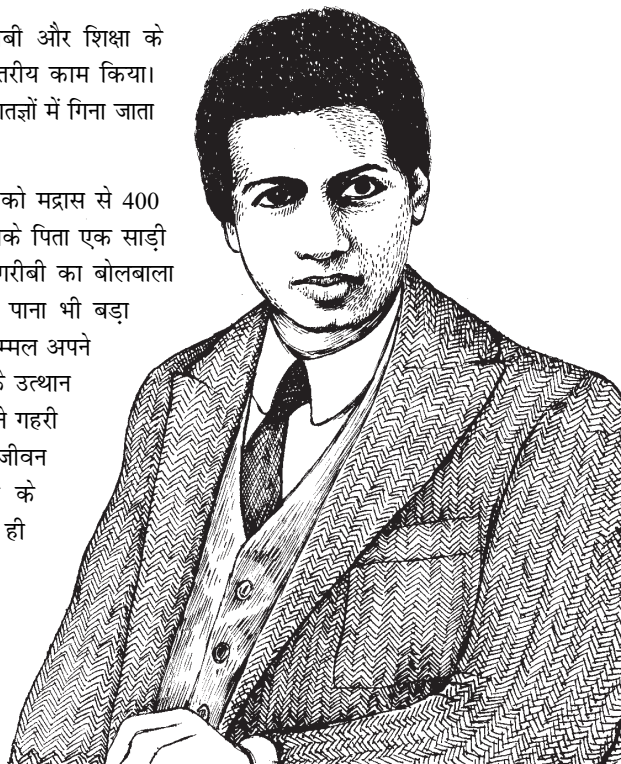
उनकी गणितीय प्रखरता 10 साल की उम्र में ही साफ दिखने लगी। वो गणित न केवल आसानी से खुद समझ लेते परंतु अपने से ऊंची कक्षाओं के छात्रों की शंकाओं का भी समाधान कर देते। हाई स्कूल में उन्होंनें जी.एस. कार की पुस्तक *ए सिनौपसिस ऑफ एलीमेंट्री रिजल्टस इन मैथिमैटिक्स* का अध्ययन किया। पुस्तक की विशिष्टता थी – बिना तरीका समझाए अंतिम परिणाम लिखना। रामानुजन ने भी यही पद्धति अपनाई और उस वजह से बाद में इस पुस्तक को काफी प्रसिद्धी मिली। उन्होंनें मद्रास विश्वविद्यालय की प्रवेश परीक्षा की तैयारी के लिए कुछ समय एक कॉलेज में दाखिला भी लिया। परंतु गणित में मगन रहने के कारण उन्होंनें बाकी विषयों पर कुछ ध्यान ही नहीं दिया। वो परीक्षा में फेल हुए और स्नातक की डिग्री पाने में असमर्थ रहे।

अगले कुछ वर्ष रामानुजन के लिए विपत्तियों से भरे रहे। उन्होंनें छात्रों को प्राइवेट ट्यूशन देने की सोची। पर इसमें भी वो असफल रहे। गणित पढ़ाते समय वो उसकी उच्च स्तरीय व्याख्या करने लगते। छात्र उनकी विद्वत्ता का आदर करते परंतु पढ़ाया गया उन्हें कुछ समझ में नहीं आता। ऐसी घटनाओं ने रामानुजन को सारी जिंदगी परेशान किया। उनकी मौलिकता तमाम गणितज्ञों की समझ के भी बाहर थी। लोग हमेशा इस भ्रम में रहते – रामानुजन सच में एक दिग्गज गणितज्ञ हैं या फिर कोई बहुरुपिया!

प्रसिद्ध *नोटबुक्स ऑफ रामानुजन* भी इसी काल में रची गयीं। रामानुजन का अंकों से एक विशिष्ट लगाव था। हर अंक उनका अभिन्न मित्र था। कठोर प्रमाण देने की उन्हें कभी जरूरत महसूस नहीं हुई। यह विशिष्टता पाश्चात्य गणितज्ञों की थी। उनकी प्रतिभा विलक्षण थी। वो एक ऊंची मानसिक उछाल के बाद सिर्फ प्रश्न का अंतिम हल लिखते थे। उस हल के चरणों को लिपिबद्ध करने की उन्होंनें कभी परवाह नहीं की। गणितज्ञ दो पीढ़ियों से उनके प्रतिपादनों के हल खोज रहे रहे हैं। आज भी वो इस कार्य में पूरी तरह सफल नहीं हुए हैं।

रामानुजन अब बीस साल के हो गए थे। रिश्तेदारों की निगाह में 'वो अपनी ही दुनिया में खोए थे'। रामानुजन की मां ने उन्हें अपनी जिम्मेदारियां का बोध कराने के लिए पुराना भारतीय तरीका अपनाया – उन्होंनें रामानुजन की शादी कर दी! क्योंकि उन दिनों बड़ों के आदेश को मानने का रिवाज था इसलिए रामानुजन ने 14 जुलाई 1909 को अपने से 11 साल छोटी जानकी अम्मल से विवाह किया। शादी के बाद रामानुजन परिवार चलाने के लिए नौकरी खोजने के
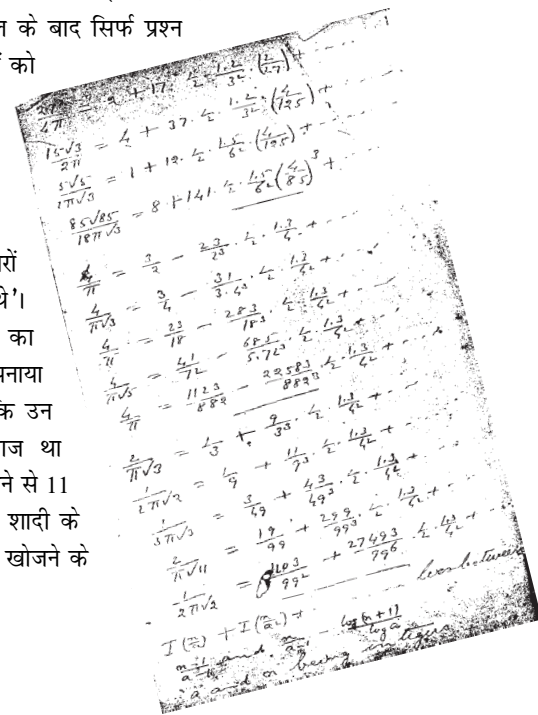
लिए मजबूर हुए। 1912 में उन्हें मद्रास पोर्ट ट्रस्ट के लेखा-जोखा विभाग में एक क्लर्क की नौकरी मिली। वहां के प्रमुख अकाउन्टेन्ट नारायण राव एक गणितज्ञ थे। पोर्ट ट्रस्ट के चेयरमैन सर फ्रांसिस स्प्रिंग और राव दोनों ने रामानुजन की गणितीय प्रतिभा में खूब दिलचस्पी ली।

The famous Landau Ramanujan constant,
K = 0.76422365358922066299069 87...
The equation, as shown here, is very, very slow to approach K!

रामानुजन ने अपने कार्य को मूल्यांकन के लिए इंग्लैंड के गणितज्ञों को भेजा। पर क्योंकि रामानुजन के पास कोई औपचारिक डिग्री नहीं थी इसलिए किसी ने भी उनके काम को गम्भीरता से नहीं लिया। 1913 में रामानुजन ने जी.एच. हार्डी को एक रोचक पत्र लिखा। हार्डी केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के ट्रिनटी कॉलेज में एक प्रख्यात गणितज्ञ थे। पत्र में रामानुजन ने बिना किसी प्रमाण के 120 गणितीय प्रमेय हार्डी को भेजीं। *'मैंने ऐसी प्रमेय पहले कभी नहीं देखीं,'* हार्डी ने लिखा, *'एक झलक में मैं समझ गया कि उन्हें कोई अव्वल दर्जे का गणितज्ञ ही लिख सकता था। उनका सच होना अनिवार्य था क्योंकि अगर वो सच नहीं होतीं तो उन्हें महज कल्पना द्वारा रच पाना असंभव था'।* हार्डी पर रामानुजन के पत्र का गहरा असर हुआ और उनके ही प्रयासों से रामानुजन केम्ब्रिज पहुंचे।

शुरु में रामानुजन के धार्मिक परिवार ने उनके सात समन्दर पार जाने पर आपत्ति जताई। कुछ लोगों के अनुसार रामानुजन की मां को एक सपना आया जिसमें नामगिरी देवी ने उन्हें अपने बेटे के रास्ते में रोड़ा नहीं बनने का आदेश दिया। उसके बाद परिवार का मिजाज नर्म पड़ा
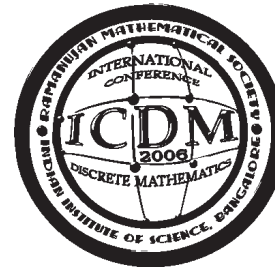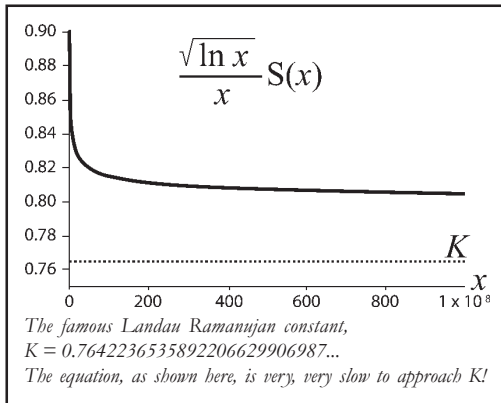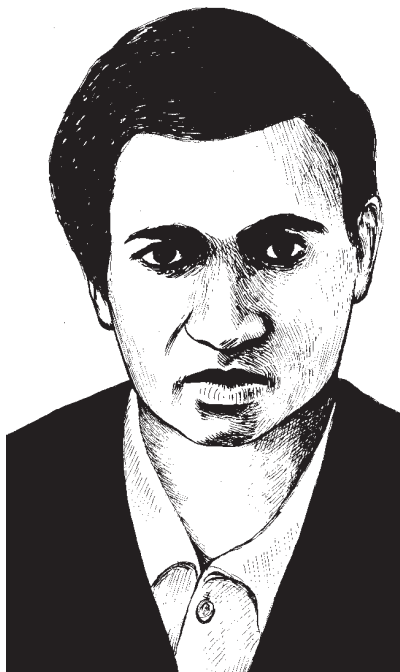
और 1914 में रामानुजन केम्ब्रिज पहुंचे। वहां उनके अनुसंधान ने जोर पकड़ा और उन्होंनें नम्बर थ्योरी, अनंत श्रेणी आदि विषयों पर शोधपत्र लिखे। 1917 में उन्होंनें सुप्रसिद्ध हार्डी-रामानुजन नियम रचा जो *'पूर्णांक के विभक्तिकरण'* के बारे में है। रामानुजन के काम की विशिष्टता है उसमें कुछ खास रहस्यमयी चिन्हों और नियमों का समावेश। उनका मानना था कि सपने में नामगिरी देवी उनके काम को दिशा और प्रेरणा देती थीं।

1916 में केम्ब्रिज विश्वविद्यालय ने रामानुजन को बैचलर ऑफ साइंस की डिग्री प्रदान की। 1919 में रामानुजन को फेलो ऑफ द रॉयल सोसाइटी (एफआरएस) का सदस्य मनोनीत किया गया। विशुद्ध शाकाहारी होने के कारण रामानुजन अपना भोजन खुद पकाते थे। काम के अत्यधिक दबाव और ठीक भोजन न मिलने के कारण रामानुजन को इंग्लैंड में क्षयरोग हो गया और उन्हें अस्पताल में दाखिल होना पड़ा। हार्डी जब उनसे मिलने गए तब उन्होंनें कहा, *'मुझे लगता है कि मेरी टैक्सी का नम्बर 1729 था जो मुझे कोई खास विशेष नजर नहीं आता है।'* रामानुजन ने जवाब दिया, *'नहीं हार्डी, यह एक अत्यन्त रोचक नम्बर है। यह वो सबसे छोटी संख्या है जिसे दो घन-संख्याओं के जोड़ द्वारा दो अलग-अलग प्रकार से लिखा जा सकता है।'* आजकल इस प्रकार की समस्याओं को *टैक्सी-कैब प्रश्नों* के नाम से जाना जाता है जिनका हल यह समीकरण है

$i^3 + j^3 = k^3 + l^3$

इन नम्बरों को अब *'रामानुजन नम्बर्स'* के नाम से जाना जाता है। कई प्रख्यात गणितज्ञों ने रामानुजन की नोट्बुक्स से उनके कार्य को समझने का प्रयास किया है।

1919 में रामानुजन इंग्लैंड से वापिस लौटे और उसी वर्ष कुम्भकोणम में उनका देहान्त हो गया। उनके काम को बहुत सराहा गया। 1962 में भारत सरकार ने उनकी 75वीं वर्षगांठ पर एक डाक टिकट भी जारी किया।

विकासशील देशों के गणितज्ञों को प्रोत्साहित करने के लिए इंटरनेशनल सेंटर फॉर थ्योरिटिकल फिजिक्स (आईसीटीपी) ने रामानुजन के नाम पर एक पुरुस्कार स्थापित किया है। पुरुस्कार इंटरनेशनल मैथिमैटिकल यूनियन के सहयोग से दिया जाता है। यही संस्था पुरुस्कार देने वाली समिति के सदस्यों को मनोनीत करती है।

आज वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में अंधाधुंध पूंजी निवेश और नवीनतम उपकरणों का बोलबाला है। फिर भी प्रयोगशालाओं में सबसे मंहगा उपकरण आज भी मनुष्य का दिमाग है! इस बात की सच्चाई का प्रमाण हमें सर सी. वी. रमन के जीवन से मिलता है। वो अकेले ऐसे वैज्ञानिक थे जिन्हें भारत में काम करने के लिए नोबेल पुरुस्कार से सम्मानित किया गया। जिन उपकरणों का उन्होंनें अपने शोध में उपयोग किया उनकी कीमत मात्र पांच सौ रुपए आंकी जाती है।

इस विलक्षण वैज्ञानिक का जन्म 7 नवम्बर 1888 को तमिलनाडु के शहर तिरुचापल्ली में हुआ। उनके पिता भौतिकी और गणित के व्याख्याता थे। रमन को बचपन में विभिन्न विषयों की पुस्तकें पढ़ने को मिलीं। उन्हें अपने पिता से संगीत का प्रेम भी मिला। संगीत के विषय पर बाद में रमन ने काफी बुनियादी शोध किया।

रमन की प्रारम्भिक शिक्षा विशाखापट्नम में हुई। उन दिनों आयु की पाबंदी न होने के कारण उन्होंनें ग्यारह वर्ष की कम उम्र में ही हाई स्कूल की परीक्षा पास कर ली थी! 1902 में रमन ने प्रेसीडेंसी कॉलेज में दाखिला लिया और वहां से 1904 में बीए पास किया। इस परीक्षा में उनका पहला नम्बर आया और साथ में भौतिकी का स्वर्ण पदक भी जीता। 1907 में एम ए की परीक्षा में वो सर्वश्रेष्ठ छात्र घोषित किए गए। रमन का डील-डौल छोटा था जिसने उनके लिए तमाम मुश्किलें खड़ी कीं। अक्सर उनके शिक्षक पूछते, *'क्या तुम सच में इस कक्षा के छात्र हो?'* कॉलेज की पढ़ाई समाप्त होने के बाद रमन को उच्च शिक्षा के लिए विदेश जाने की सलाह दी गई। परंतु मद्रास में सिविल सर्जन ने जब उनकी जांच की तो उन्हें लगा कि
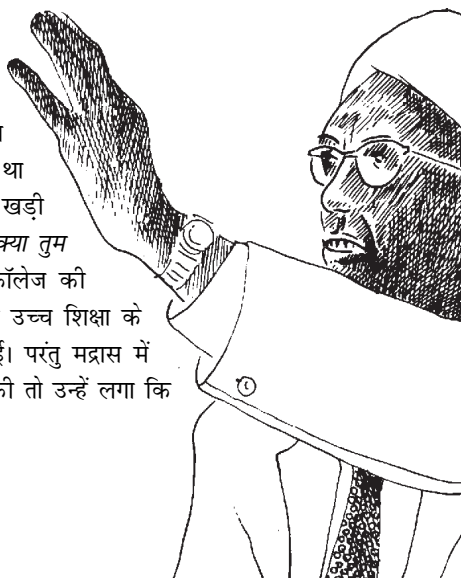
रमन का छोटा शरीर इंग्लैंड के कड़क मौसम को बर्दाश्त नहीं कर पाएगा। भारत में रह कर काम करने के लिए रमन उस डॉक्टर के लिए सारी जिंदगी ऋणी रहे।

रमन ने भौतिकी में एमए करने के बाद क्या किया? उन दिनों वैज्ञानिकों के लिए बहुत कम नौकरियां थीं। अन्य विकल्प खुले न होने के कारण रमन ने कलकत्ते में वित्त विभाग में शासकीय नौकरी की!
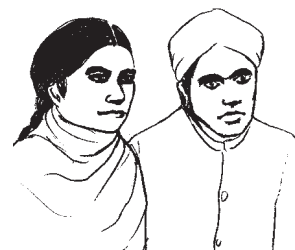
रमन की शादी, उनकी पूरी जिंदगी की तरह ड्रामे से भरी थी। अपने रिश्तेदारों के घर पर उनकी भेंट 13 वर्षीय लोकसुंदरी से हुई और वो तुरंत उस पर फिदा हो गए। एक क्रांतिकारी अंदाज में उन्हें खुद अपना ब्याह रचाया। रमन की पहली भेंट के समय लोकसुंदरी एक अत्यन्त उपयुक्त कर्नाटक गीत गा रहीं थीं जिसके बोल थे - *हे राम, तुम्हारा साथी भला कौन है?*

वित्त विभाग में नौकरी करते हुए भी रमन की रुचि भौतिकी में लगातार बनी रही। उन्होंनें घर में ही एक छोटी प्रयोगशाला बनाई और वहीं प्रयोग करते रहे। एक दिन काम से लौटते समय उन्हें एक साईनबोर्ड दिखाई दिया जिस पर इंडियन एसोसिएशन फॉर कल्टिवेशन ऑफ साइन्स (आईएसीएस) लिखा था। रमन चलती ट्राम से कूद कर वहां पहुंचे जहां उनका स्वागत अमृतलाल सरकार ने किया। अमृतलाल संस्था के संस्थापक महेंद्रलाल के बेटे थे। 1876 में स्थापित संस्था का उद्देश्य भारतीय विज्ञान को प्रोत्साहित करना था। अब रमन शाम को अपने दफ्तर से लौटकर वहां की प्रयोगशाला में काम करने लगे। जल्द ही वो उच्च कोटि के वैज्ञानिक शोधपत्र लिखने लगे जिनकी ओर विशेषज्ञों का ध्यान आकर्षित हुआ।

1917 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति सर आशुतोष मुखर्जी ने रमन को तारकनाथ पालित चेयर स्वीकार करने का निमंत्रण दिया। रमन तो फूले नहीं समाए। वित्त विभाग के बहीखातों से बरी होकर अब वो अपने प्रिय विषय पर शोध करने के लिए मुक्त थे।

1921 में एक कान्फ्रेंस में भाग लेने के लिए रमन विदेश गए। उनकी समुद्री यात्रा भौतिकी के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हुई। वो समुद्र के गहरे नीले पानी को निहारते रहे। सागर का पानी नीला क्यों है? क्या पानी आसमान के प्रतिबिम्ब के कारण नीला दिखता है? रमन को लगा कि सागर का नीलापन पानी और सूर्य के प्रकाश के अंतर्संबंध के कारण है। जब जहाज के अन्य मुसाफिर ताश और बिन्गो के खेल में मस्त थे तब रमन वहां एक स्पेक्ट्रोमीटर से प्रयोगों में मगन थे। बाद में उन्होंनें अलग-अलग माध्यमों में प्रकाश के बिखराव (प्रकीर्ण) पर एक वैज्ञानिक शोधपत्र लिखा।

भारत लौटने के बाद रमन ने इस विषय पर गम्भीरता से शोध शुरु किया। उन्होंनें प्रकाश की किरणों को भिन्न-भिन्न तरलों से गुजारा और उनके प्रभाव का अध्ययन किया। 1928 में उन्होंनें स्थापित किया कि जब एक रंग का प्रकाश किसी तरल से गुजरता है तो प्रकाश के कण और तरल के परमाणु एक दूसरे के साथ टकराते हैं और प्रकाश को बिखराते हैं। तब बाहर निकलने वाली प्रकाश-किरण का रंग आने वाले किरण से भिन्न होता है। आने वाली किरण की अपेक्षा बाहर निकलने वाली किरण ऊंचे और नीचे स्तर की ऊर्जा की ओर शिफ्ट होती है। यही वो सुप्रसिद्ध 'रमन प्रभाव' है जिसके कारण रमन को बाद में नोबेल पुरुस्कार मिला। उनकी खोज से विश्वस्तर पर वैज्ञानिक शोध में तेजी आई। उनके शोध से अलग-अलग वस्तुओं के ढांचों के अध्ययन में बहुत मदद मिली।
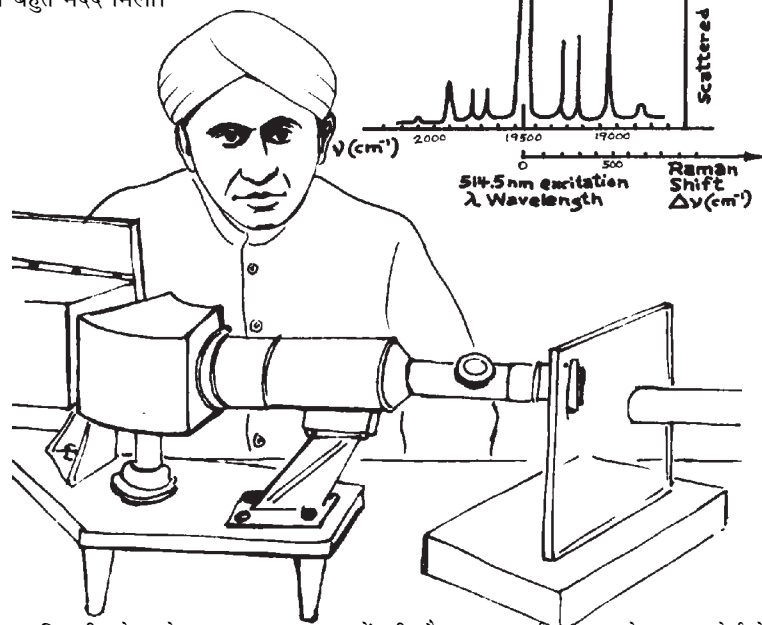
इस बुनियादी शोध के बाद रमन पर सम्मानों की बौछार लग गई। सर अरनेस्ट रदरफोर्ड ने *'रमन इफैक्ट'* की खोज की जानकारी रॉयल सोसाइटी को दी जिसके बाद ब्रिटिश सरकार ने रमन को नॉइटहुड के सम्मान से नवाजा। 10 दिसम्बर 1930 को उन्हें दुनिया के सर्वोच्च नोबेल पुरुस्कार से सम्मानित किया गया। रमन विज्ञान के लिए नोबेल पुरुस्कार पाने वाले पहले एशियन और अश्वेत व्यक्ति थे। उनसे पहले रबीन्द्रनाथ ठाकुर को साहित्य के लिए यह सम्मान मिला था। रमन के भानजे सुब्रामनियन चंद्रशेखर को लगभग पचास वर्ष बाद 1983 में नोबेल पुरुस्कार मिला।

सदियों तक विदेशी ताकतों द्वारा शासन किए जाने के बाद इस अंतर्राष्ट्रीय गौरव से भारतीय वैज्ञानिकों का आत्म-सम्मान बुलंद हुआ। एक भारतीय वैज्ञानिक जिसने सारा शोध भारत में ही रह कर किया हो के लिए दुनिया का सबसे बड़ा सम्मान मिलना सच में बहुत गर्व की बात थी।

जुलाई 1933 में रमन, टाटा इंस्टिट्यूट ऑफ साइन्स (बाद में इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ साइन्स) के निदेशक नियुक्त हुए। रमन ने अगले 15 वर्ष इस संस्था में गुजारे और इस दौरान उन्होंनें वहां एक विश्व-स्तर का फिजिक्स विभाग स्थापित किया। उन्होंनें यहां अंतर्राष्ट्रीय स्तर के तमाम वैज्ञानिकों को ट्रेनिंग और प्रेरणा दी। उन्होंनें एक्स-रे डिफ्रैक्शन और अपने प्रिय विषय प्रकाश एवं पदार्थ के बीच अंतर्सम्बंधों पर काम शुरु किया।
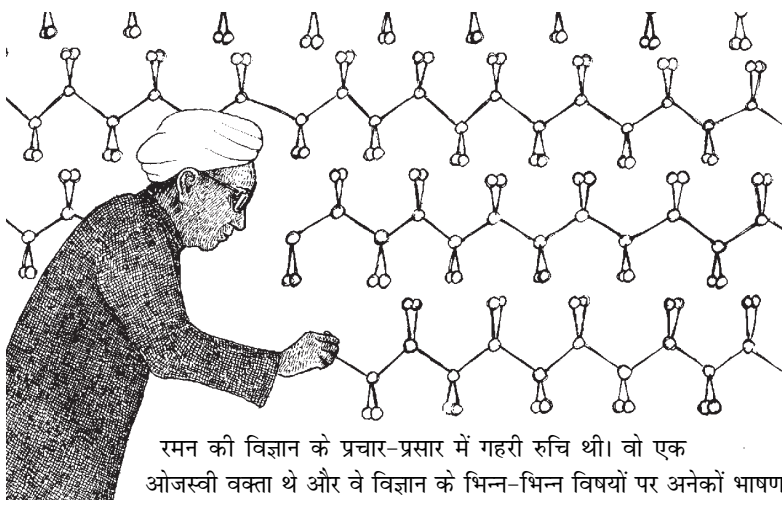
रमन की विज्ञान के प्रचार-प्रसार में गहरी रुचि थी। वो एक ओजस्वी वक्ता थे और वे विज्ञान के भिन्न-भिन्न विषयों पर अनेकों भाषण दिए। विज्ञान एक रोचक विषय होने के साथ-साथ समाजिक प्रगति में भी उसका एक अहम रोल था। अपने भाषणों में वे गूढ़ विषयों को सरल और अत्यंत रोचक बनाते थे। अपने लोकप्रिय भाषणों के शो में वो दर्शकों को दंग कर देते थे। अपने लेक्चर में वो अक्सर कोई ठोस वैज्ञानिक प्रयोग करके दिखाते थे। उनका लेक्चर *'आसमान नीला क्यों होता है?'* आज भी लोकप्रिय विज्ञान प्रसार की एक अनूठी मिसाल है। इसमें फार्मूलों और उबाऊ तथ्यों का उपयोग न कर विज्ञान को प्रश्नों की एक श्रृंखला जैसे समझाया गया है और तार्किक तरीके से प्रकृति के नियमों का उजागर किया गया है।

वो इंडियन नैशनल साइन्स एकेडमी (इन्सा) के संस्थापक थे।

रमन ने वाद्ययंत्रों के विज्ञान पर भी काम किया। धनुष-डोर से बजने वाले वाद्ययंत्रों के कम्पन और उनकी भौतिकी पर भी उन्होंनें प्रकाश डाला। तबले और मृदंगम से किस प्रकार संगीतमय ध्वनि निकलती है उन्होंनें इस पर भी शोध किया।

1943 में उन्होंनें एक कम्पनी शुरु की - ट्रैवेन्कोर केमिकल्स एंड मैन्यूफैक्चरिंग कम्पनी।

1948 में सेवानिवृत्ति से पहले रमन ने बैंगलोर में रमन रिसर्च इंस्टिट्यूट की स्थापना की। इस संस्था की विशेषता यह थी कि उसकी स्थापना के लिए सारी पूंजी निजी दाताओं से आई। उन्होंनें 1970 तक अपना वैज्ञानिक शोधकार्य जारी रखा। हमेशा की तरह उन्होंनें 2 अक्टूबर 1970 को रमन रिसर्च इंस्टिट्यूट में महात्मा गांधी समृति व्याख्यान दिया। उसके बाद वो तुरन्त बीमार पड़ गए और 21 नवम्बर को उनका देहान्त हो गया।

शिशिर कुमार मित्रा

(1890 - 1963)

शिशिर कुमार मित्रा ने भारत में रेडियो विज्ञान की नींव रखी। उन्होंनें आयन-मंडल (आयनोस्फीयर) पर भी बहुत शोधकार्य किया।

शिशिर का जन्म 24 अक्टूबर 1889 में कलकत्ते में हुआ। उनके पिता जयकृष्ण एक स्कूल शिक्षक थे और मां शरतकुमारी डॉक्टर थीं। जयकृष्ण ने शादी परिवार की रजामंदी के बिना की थी। इसलिए उन्हें घर छोड़ना पड़ा और पारिवारिक सम्पत्ति का कोई हिस्सा भी न मिला। शिशिर के जन्म के समय उनकी मां कैम्पबेल मेडिकल स्कूल की छात्रा थीं। 1989 में शरतकुमारी को लेडी डफरिन अस्पताल में नौकरी मिली और जयकृष्ण को भागलपुर म्यूनिस्पैल्टी में क्लर्क की नौकरी मिली। शिशिर की प्रारम्भिक पढ़ाई भागलपुर डिस्ट्रिक्ट स्कूल में हुई। बाद में वो टी.एन. जे. कॉलेज में पढ़े। नौ बरस की उम्र में उन्होंनें एक गर्म हवा का गुब्बारा देखा। इसका उन पर गहरा प्रभाव पड़ा और उन्हें आगे विज्ञान पढ़ने की प्रेरणा मिली। फॉइन आर्ट्स (एफए) की परीक्षा के पहले उनके पिता का देहान्त हो गया। उससे तबाही आई परन्तु शिशिर की मां ने बहुत हिम्मत और धैर्य से शिशिर का लालन-पालन किया।

आर्थिक समस्याओं के बावजूद शिशिर की मां ने उन्हें कलकत्ते के प्रेसीडेंसी कॉलेज से बीएससी करने के लिए प्रोत्साहित किया। यहां खुशकिस्मती से उनकी भेंट दो महान शिक्षकों
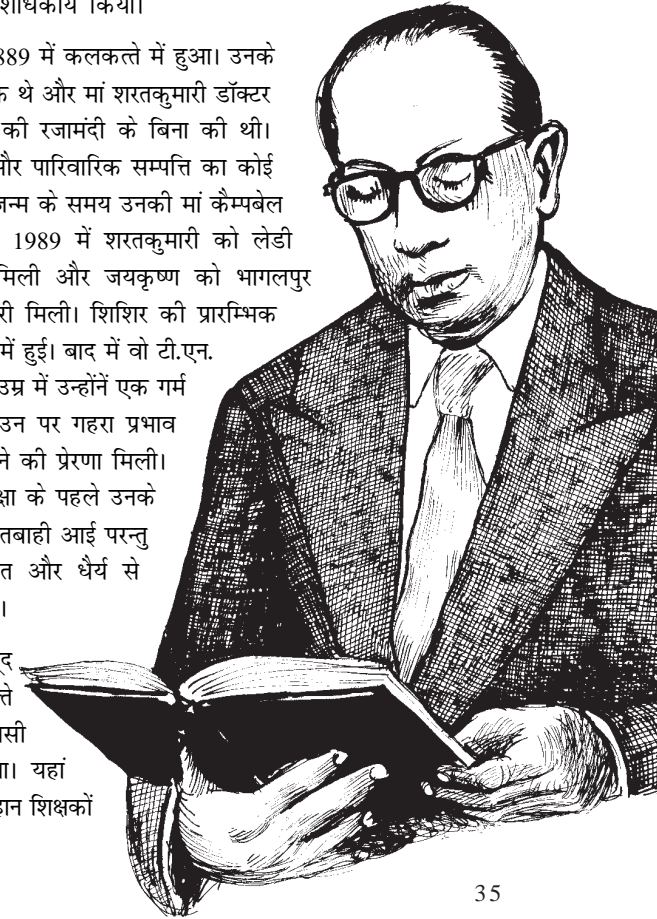
– जगदीश चंद्र बोस और प्रफुल्ल चंद्र रे से हुई। शिशिर ने जब बोस द्वारा निर्मित कम-कीमत के उपकरणों को देखा तो वो उनकी ओर बहुत आकर्षित हुए और उन्होंने पढ़ाने के साथ-साथ शोध करने का निश्चय किया। 1912 में एमएससी की परीक्षा में वो सर्वप्रथम आए। कुछ समय के लिए उन्होंनें बोस के साथ शोधकार्य किया परन्तु परिवार चलाने के लिए उन्हें तुरन्त एक नौकरी की जरूरत थी। इसलिए उन्होंनें कुछ सालों तक भागलपुर के टी.एन.जे. कॉलेज और फिर बंकुरा क्रिस्चियन कॉलेज में अध्यापन किया। 1914 में उनका विवाह लीलावती देवी से हुआ।
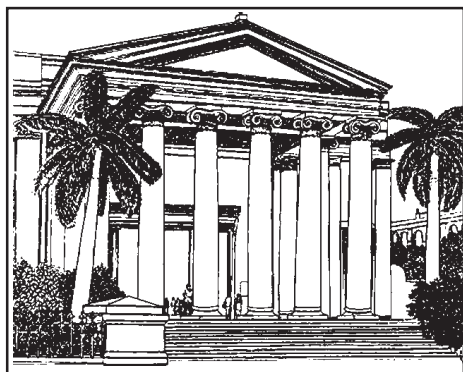
उस समय कलकत्ता विश्वविद्यालय के उप-कुलपति सर आशुतोष मुखर्जी एम एससी स्तर की पढ़ाई और वैज्ञानिक शोध शुरु करने के लिए प्रयासरत थे। 1916 में वो यूनिवर्सिटी साइन्स कॉलेज को स्थापित करने में सफल हुए और वहां उन्होंनें मित्रा समेत अनेक कुशल शोधकर्ताओं को भौतिकी विभाग में काम करने के लिए आमंत्रित किया। इन दिग्गजों की सूची में सी.वी. रमन, सत्येंद्र नाथ बोस और मेघनाथ साहा भी शामिल थे। मित्रा ने रमन के मार्गदर्शन में प्रकाश के 'इंटरफीयरेंस' और 'डिफ्रैक्शन' पर शोध शुरु किया। केवल तीन सालों में उन्होंनें अपनी थीसिस पूरी की और 1919 में कलकत्ता विश्वविद्यालय से डीएससी की डिग्री प्राप्त की।

उसके तुरन्त बाद वो आगे अनुसंधान करने के लिए विदेश गए। शुरु में उन्होंनें चार्ल्स फारबी के साथ पेरिस की सोरबॉन यूनिवर्सिटी में काम किया। 1923 में उन्होंनें दूसरी डीएससी डिग्री हासिल की। उसके बाद उन्होंनें मादाम क्यूरी की रेडियम इंस्टिट्यूट में काम किया। कुछ अवधि के लिए उन्होंनें इंस्टिट्यूट ऑफ फिजिक्स, नैन्सी में गटन के भी साथ काम किया। यहां पर मित्रा की रुचि रेडियो वाल्वस और उनके उपयोग में जगी। उन्होंनें भविष्य में नये उभरते रेडियो रिसर्च के क्षेत्र में काम करने की ठानी। तब तक यह विषय किसी भी भारतीय विश्वविद्यालय में नहीं पढ़ाया जाता था। इसलिए उन्होंनें सर आशुतोष मुखर्जी से 'वायलैस' विषय को एमएससी के पाठ्यक्रम में शामिल करने का आग्रह किया और साथ में उस पर ठोस कार्य करने के लिए एक प्रयोगशाला भी स्थापित करने के लिए कहा।

सर आशुतोष ने मित्रा के प्रस्ताव का स्वागत किया और उनसे भारत वापिस लौटने पर इस पर विस्तार से काम करने का अनुरोध किया। 1923 में स्वदेश लौटने के बाद मित्रा ने खैरा प्रोफेसर ऑफ फिजिक्स के पद पर काम किया। इस प्रकार भारत में रेडियो इलेक्ट्रानिक्स
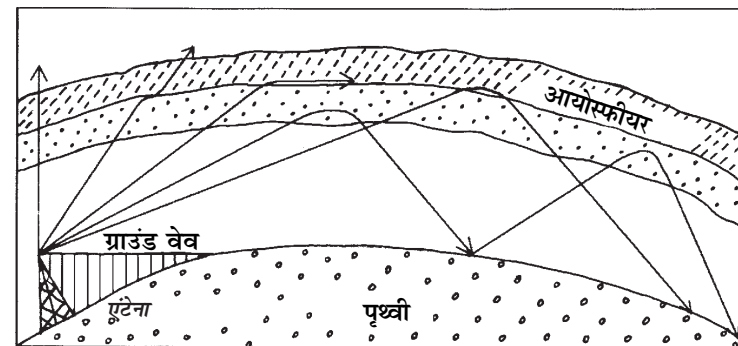
शोध का सूत्रपात हुआ। रेडियो सम्बंधी पढ़ाई, शोधकार्य और प्रयोगशालाओं पर तेजी से काम शुरु हुआ। जल्द ही कलकत्ता विश्वविद्यालय में एक विश्व-स्तरीय रेडियो रिसर्च स्कूल विकसित हुआ जो आज इंस्टिट्यूट ऑफ रेडियो फिजिक्स एंड इलेक्ट्रानिक्स के नाम से जाना जाता है।

रेडियो की असली कहानी तो आयनोस्फीयर की खोज के बाद ही शुरु हुई। मित्रा ने आयनोस्फीयर का गहन अध्ययन किया जोकि दूर-दराज के रेडियो सम्प्रेषण (कम्यूनिकेशन) के लिए बेहद जरूरी है। यह वातावरण का वो ऊपरी क्षेत्र है जो छोटी लम्बाइयों वाली रेडियो तरंगों को परावर्तित करता है और इसी वजह से पृथ्वी की मुड़ी सतह पर ट्रांस्मिशन हो पाता है। कलकत्ता स्थित इंडियन स्पेस ब्रॉडकास्टिंग सर्विस के ट्रांस्मिटर का उपयोग कर मित्रा ने पहली बार आयनोस्फीयर में स्थित ई-क्षेत्र के सबूत जुटाए। मित्रा के अनुसार रात के आकाश में दिखने वाली दीप्ती का कारण ए-क्षेत्र में स्थित आयन थे। इस प्रकाश के कारण ही रात का आकाश स्याह काला न दिखकर थोड़ा मटमैला दिखता था। उन्होंनें कलकत्ते के ऊपर स्थित आयनोस्फीयर की परतों का अध्ययन कर कई शोधपत्र लिखे। उन्होंनें साध े-सरल उपकरणों का उपयोग कर आयनोस्फीयर के अच्छे नक्शे बनाए। उस जमाने में आयनोस्फीयर केमिस्ट्री पर अनुसंधान बस प्रारंभ ही हुआ था। यहां भी मित्रा ने ओजोन के निर्माण और उसके ध्वस्त होने की प्रक्रिया का विस्तृत अध्ययन किया।

मित्रा ने आयनोस्फीयर पर एक अनूठी पुस्तक लिखी – द *अपर एटमोस्फीयर*। विदेशी प्रकाशक इस पुस्तक को छापने से कतराते रहे क्योंकि उन्हें लगा कि यह किताब अन्य विदेशी पुस्तकों के साथ प्रतिस्पर्धा करेगी और उनकी बिक्री कम होगी! पर जब इस पुस्तक को 1947 में एशियाटिक सोसाइटी ने छापा तो उसकी 2000 प्रतियां केवल तीन वर्ष में बिक गयीं। रेडियो कम्यूनिकेशन, आयनोस्फीयर, उच्च वातावरण की भौतिकी, जियोमैग्निटिज्म और स्पेस साइंस के छात्र पीढ़ी-दर-पीढ़ी इस पुस्तक से लाभांवित हुए हैं। मित्रा ने इस पुस्तक में एक नई पहल कर आयनोस्फीयर को पृथ्वी, सूर्य और वातावरण का एक अभिन्न हिस्सा माना।

1955 में उनकी पुस्तक का रूसी भाषा में अनुवाद हुआ। जब स्पूतनिक - 1 का लांच हुआ तब सोवियत वैज्ञानिकों को उपग्रहों के जीवनकाल का अनुमान लगाने के लिए मित्रा की पुस्तक द *अपर एटमोस्फीयर* में ही वातावरण के सबसे उपयुक्त मॉडल मिले।

यूनिवर्सिटी से नवम्बर 1955 में सेवानिवृत्ति के बाद मित्रा वहां प्रोफेसर एमरेटस की हैसियत से काम करते रहे। बंगाल के मुख्य मंत्री श्री बिधान चंद्र रॉय के आग्रह पर उन्होंनें पश्चिम बंगाल के शिक्षा बोर्ड को पुनर्गठित किया और उसे एक कुशल संगठन का रूप दिया। शिक्षा बोर्ड का बोझिल काम सम्भालते हुए भी उन्होंनें अपना शोधकार्य जारी रखा। मित्रा ने ऐसे तमाम कुशल वैज्ञानिकों को प्रशिक्षित किया जिन्होंनें बाद में पथप्रदर्शक काम किया। इनमें से कुछ प्रमुख नाम हैं प्रोफेसर ए.पी. मित्रा (एफआरएस), एम.के. दासगुप्ता (रेडियो एस्ट्रॉनमी) और सिगनस-ए नामक रेडियो गैलक्सी के खोजकर्ता और प्रोफेसर जे.एन. भार।

पत्नी और बड़े पुत्र डॉ. अशोक मित्रा के असामयिक निधन के कारण मित्रा का व्यक्तिगत जीवन दुखी रहा। पुत्र के निधन से उन्हें गहरा धक्का लगा। पर उसके तुरन्त बाद उन्हें फेलो ऑफ द रॉयल सोसाइटी (एफआरएस) का सदस्य मनोनीत किया गया। उन्हें सरकार ने नैशनल प्रोफेसर भी बनाया। वो अपना ज्यादातर समय घर पर ही लिखते-पढ़ते हुए गुजारते। हर शाम वो अपने घर के पास स्थित क्लब में मनोरंजन के लिए जाते और कभी-कभी वहां शतरंज के एक-दो खेल भी खेलते।

शिशिर कुमार मित्रा को बहुत से राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय सम्मान मिले। 1958 में एफआरएस, इंडियन नैशनल साइन्स एकेडमी के अध्यक्ष (1959-60) नैशनल प्रोफेसर (1962) और उसी वर्ष उन्हें भारत सरकार ने पद्मभूषण से भी सम्मानित किया। कुछ दिनों बीमार रहने के बाद उनका देहान्त 13 अगस्त 1963 को हुआ। मित्रा के सम्मान में चंद्रमा पर स्थित एक गड्ढे (क्रेटर) का नाम *'मित्रा'* रखा गया है।
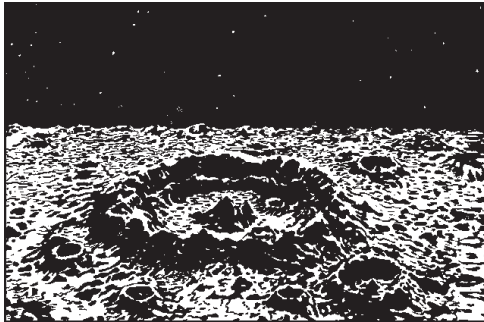
बीरबल साहनी
(1891 - 1949)

एक नए जीवाश्म (फॉसिल) की खोज जीवन-विकासक्रम के इतिहास की दिशा बदल सकती है। प्रोफेसर बीरबल साहनी को भारत में जीवाश्म विज्ञान की नींव रखने का श्रेय जाता है। उनके पिता प्रोफसर रुचि राम साहनी ने एक संघर्षमय जीवन बिताया था। उन्होंनें फिजिक्स के नामी-गिरामी वैज्ञानिकों - रदरफोर्ड, थॉमसन और बोहर के साथ काम किया और बाद में विज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए पंजाब साइंस इंस्टिट्यूट की स्थापना की। रुचि राम ने साबुन के बुलबुलों, विद्युत, चुम्कत्व और टेलिग्राफ की कार्य पद्धति पर लोकप्रिय लेक्चर दिए। ग्रामीण एवं आम लोग उनके इन जादुई लेक्चरों को सुनने भारी संख्या में आते और सहर्ष एक-दो आने का टिकट खरीदते। रुचि राम ने अपने जमाने की सामाजिक कुरीतियों की पुरजोर खिलाफत की। उनका मानना था कि शिक्षा और विज्ञान के माध्यम से ही भारत की गरीब जनता का जीवनस्तर सुधारा जा सकता है। मोतीलाल नेहरु, गोपाल कृष्ण गोखले, सरोजनी नायडु और मदन मोहन मालवीय जैसे प्रमुख नेताओं का अक्सर उनके घर आना-जाना होता था। बीरबल साहनी इसी ज्ञान सम्पन्न वातावरण में बड़े हुए।

बीरबल साहनी का जन्म 14 नवम्बर 1891 को भेड़ा में हुआ जो अब पाकिस्तान में है। बचपन से ही उन्हें साहसी कामों में बड़ा आनंद आता था। चौदह साल की उम्र में वे एक दिन अपने छोटे भाई और बहन के साथ 'केंकड़े पकड़ने' के अभियान पर निकले। रुमाल और कुछ टिन के डिब्बों के साथ वो गहरी घाटियों में उतरे और ऊंची चट्टानों पर चढ़े और बहुत रात बीतने के बाद ही घर वापिस लौटे। पर उनके समझदार पिता ने उन्हें इसके लिए बिल्कुल डांटा-फटकारा नहीं। बीरबल अक्सर अपने पिता के साथ हिमालय की दूर-दराज स्थित पहाड़ियों पर घूमने जाते। इन अभियानों में वो अपने साथ वनस्पतिशास्त्र की पुस्तक *हुकर्स फ्लोरा* ले जाना नहीं भूलते। एक बार जो-जिल्ला दर्रा पार करते हुए उन्होंनें कुछ 'लाल-स्नो' इकट्ठी की। बाद में वो एक बहुत दुर्लभ किस्म की बर्फ में उगने वाली शैवाल (*एल्जी*) निकली।

बीरबल की प्रारम्भिक पढ़ाई लाहौर के मिशन और सेंट्रल स्कूल में हुई। 1911 में उन्होंनें गवरमेंट कॉलेज, लाहौर से स्नातक की डिग्री हासिल की। उनके पिताजी उसी कॉलेज में केमिस्टरी के प्रोफेसर थे। उसी साल उन्होंनें केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी के इमैन्युल कॉलेज में दाखिला लिया। उनके पास कोई सिफारिश-पत्र नहीं था और यह दाखिला पूर्णत: उन्हें अपनी काबलियत पर मिला। पर कुछ समय बाद उन्हें घर की याद सताने लगी और वो भारत लौटने के लिए व्याकुल हो उठे। परन्तु सौभाग्यवश उनके बड़े भाई उस समय इंग्लैंड में डॉक्टरी पढ़ रहे थे और उन्होंनें बीरबल से कॉलेज वापिस जाकर मन लगाकर पढ़ने का आग्रह किया। उस दिन के बाद से बीरबल ने जी-जान लगाकर पढ़ाई की और 1914 में उन्हें केम्ब्रिज से स्नातक की डिग्री मिली। उस समय रुचि राम इंग्लैंड में ही लार्ड रदरफोर्ड की प्रयोगशाला में कार्यरत थे। छुट्टियों में बीरबल अपने पिता के कार्य की फोटोग्राफ्स लेते! जवाहरलाल नेहरु केम्ब्रिज में बीरबल की कक्षा में थे। दोनों को जीवाश्मों से अथाह प्रेम था। बीरबल और जवाहरलाल की मित्रता सारी जिंदगी कायम रही।

बीरबल के शोधकार्य की परिणिति जे.सी. विलिस के साथ मिलकर लिखी एक पुस्तक *लॉसन्स टेक्सटबुक ऑफ बॉटनी* के प्रकाशन के रूप में हुई। जीवाश्म सम्बंधी शोधकार्य के लिए बीरबल को 1919 में केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी ने डी एस सी की डिग्री प्रदान की। 1920 में उनकी थीसिस *फिलौसाफिकल ट्रांजैक्शन* नामक शोध पत्रिका में छपी। तब तक साहनी का नाम वनस्पतिशास्त्र के एक मौलिक चिंतक के रूप में उभर चुका था।

केम्ब्रिज प्रवास के दौरान बीरबल की अपने शिक्षक प्रोफेसर सीवर्ड के साथ गहरी दोस्ती हो गई थी। प्रोफेसर सीवर्ड को जब कुछ भारतीय जीवाश्म के नमूने अध्ययन के लिए भेजे गए तो उन्होंनें उन्हें यह कह कर लौटा दिया कि उन पर शोध करने के लिए भारत में बीरबल साहनी मौजूद हैं। प्रोफेसर सीवर्ड की इस टिप्पणी के बाद बीरबल गम्भीर अनुसंधान में जुट गए।

करोड़ों साल पहले एक पौधे की पत्थर पर अंकित छाप।

1921 में वो लखनऊ विश्वविद्यालय में नये-नये खुले वनस्पतिशास्त्र विभाग में पहले प्रोफेसर बने। वो न केवल बीएससी के छात्रों को पढ़ाते परंतु उनके प्रैक्टिकल काम में भी मदद करते और उन्हें नियमित रूप से पेड़-पौधों के अवलोकन के लिए परिभ्रमण पर ले जाते। अपने श्रम से वो वनस्पतिशास्त्र में अनुसंधान का एक जीवान्त और उच्च कोटि का केन्द्र स्थापित कर पाए। वो अपने विषय में दक्ष थे। वो दोनों हाथों से बहुत तेजी से वनस्पतियों के चित्र ब्लैकबोर्ड पर बनाने में माहिर थे। वो बहुत मेहनती थे और सदैव अपने काम में डूबे रहते थे। वो दिन-रात अपने हाथों से जीवाश्मों के पतले सेक्शन काटते, घिसते और उन्हें पॉलिश करते थे। जल्द ही वो फासिल्स और पत्थरों के वैज्ञानिक नमूने तैयार करने में माहिर हो गए।

जीवाश्मों के विश्लेषण द्वारा बीरबल साहनी लुप्त पौधे विलमसोनिया का पुन:निर्माण कर पाए।

वो पहले भारतीय वनस्पतिशास्त्री थे जिन्हें 1936 में रॉयल सोसाइटी की फेलोशिप से सम्मानित किया गया। उन्होंनें भारतीय विज्ञान कांग्रेस के कई सत्रों की अध्यक्षता की। उन्हें अमरीकन एकेडमी ऑफ आर्ट्स एंड साइन्सेस की सदस्यता भी प्रदान की गई।

विज्ञान में गहरी रुचि के साथ-साथ साहनी के अन्य बहुत से शौक थे। संगीत से उन्हें अथाह लगाव था और वो सितार और वॉयलन बजाते थे। अपने खाली समय में वो चित्रकारी और मिट्टी के मॉडल बनाते थे। शतरंज उनका सबसे प्रिय खेल था। स्कूल और कॉलेज के दिनों में वो हॉकी और टेनिस खेलते थे। राष्ट्रभक्त होने के नाते उन्होंनें ब्रिटिश लिबास त्याग दिया था और वो हमेशा खद्दर की शेरवानी पहनते थे। बचपन से ही उन्हें संस्कृत में गहरी रुचि थी और यह रुचि जीवन भर बनी रही।

साहनी ने भारतीय पैलो-बॉटनी के लगभग सभी पक्षों पर काम किया। उन्होंनें बिहार की राजमहल पहाड़ियों से बहुत से पौधों के जीवाश्म एकत्रित किए। यहां उन्होंने जीवाश्मों का एक नया समूह खोजा और उसे *'पेंटोजायलेई''* नाम दिया। उन्होंने ही इंडियन बॉटानिकल सोसाइटी की स्थापना की।

साहनी की कई क्षेत्रों में रुचि थी। उन्होंने प्राचीन भारतीय सिक्के बनाने की विधि पर शोध किया और इसके लिए उन्हें 1945 में न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इंडिया ने *नेल्सन राइट मेडल* से सम्मानित किया। सिक्कों पर शोधकार्य करते हुए उन्हें भू-शास्त्र (जियोलजी) का भी गहरा ज्ञान हो गया। उनके शोध ने 'डेक्कन ट्रैप' और हिमालय के उठान पर भी प्रकाश डाला।

1920 में बीरबल साहनी का विवाह सावित्री के साथ हुआ। सावित्री उनके साथ हमेशा घूमीं-फिरीं और उनके काम में लगातार सहयोग करती रहीं। बाद में उन्होंनें लखनऊ में गोमती नदी के किनारे अपना घर बनाया। 1946 में पैलो-बॉटनी विषय के शोध के प्रोत्साहन के लिए उन्होंने एक ट्रस्ट की स्थापना की। साहनी और उनकी पत्नी ने इस प्रकल्प के लिए पूंजी, जगह, पुस्तकें और जीवाश्म दान दिए।
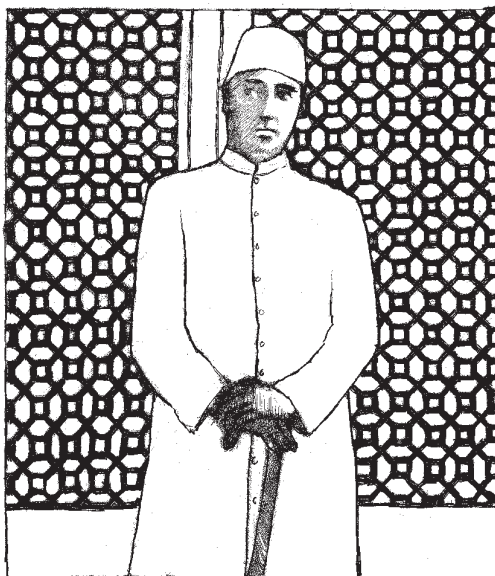
पैलो-बौटेनिकल सोसाइटी ने लखनऊ विश्वविद्यालय के एक छोटे कमरे में ही अपना काम आरम्भ किया। 1948 में राज्य सरकार ने इस नई संस्था के लिए एक जमीन आवंटित की। संस्था की नींव 3 अप्रैल 1949 को भारत के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरु ने रखी। बीरबल साहनी ने इस अवसर पर संस्था का पहला भाषण दिया जो दुर्भाग्य से उनका अंतिम भाषण भी था। एक सप्ताह बाद 9 अप्रैल 1949 की मध्यरात्रि को दिल के दौरे से उनका देहान्त हो गया। बीरबल की मृत्यु के बाद सावित्री साहनी ने अपने पति के सपनों को साकार करने के लिए अथक प्रयास किए। उन्होंनें अत्यन्त संघर्षों के बाद संस्था को अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक पहुंचाया। सावित्री साहनी के महत्वपूर्ण योगदान के लिए भारत सरकार ने उन्हें 1969 में पद्मश्री से सम्मानित किया। नवम्बर 1969 में संस्था का नाम बदल कर अग्रणी वैज्ञानिक बीरबल साहनी की समृति में बीरबल साहनी इंस्टि्टयूट ऑफ पैलो-बॉटनी रखा गया।
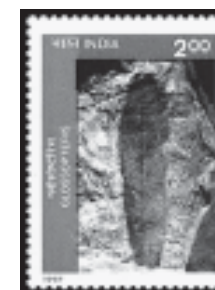
भारतीय डाक विभाग ने बीरबल साहनी के सम्मान में अनेकों डाक टिकट जारी किए। एक प्रजाति का नाम बीरबलसाहनिया दिव्यदर्शनी रखा गया।

जे.बी.एस. हैल्डेन

(1892 - 1964)

'यह सच है कि कई मायनों में मैं एक विश्व नागरिक हूं। पर मैं थॉमस जैफरसन के इस मत से पूरी तरह सहमत हूं कि हरेक नागरिक का एक प्रमुख कर्तव्य है कि वो उपद्रवी बनकर अपने देश की सरकार की ऐसी की तैसी करता रहे।'

– जे.बी.एस. हैल्डेन

जॉन बर्डन सैंडरसन (जेबीएस) हैल्डेन विज्ञान जगत के महान और मौजी शखसियत थे। वो स्वतंत्र, प्रतिभाशाली, मजेदार और बिल्कुल अनूठे थे। उनके पिता ऑक्सफोर्ड में फिजियालॉजी के प्रोफेसर थे और उनका विज्ञान का शिक्षण अपने पिता के सहायक जैसे शुरु हुआ। बचपन में गिनी-पिग पालते हुए उन्हें मेंडल के जेनेटिक्स के सिद्धांतों का ज्ञान हो गया था।

अपने बचपन के बारे में हैल्डेन ने लिखा: *'मेरा बचपन धार्मिक शिक्षण से पूरी तरह बरी था। घर में धर्म की बजाए विज्ञान और दर्शन का माहौल था। घर में विज्ञान के सामयिक विषयों पर मुक्त बहस होती। इसीलिए न तो आइंस्टीन की बातें मेरी समझ के बाहर हैं और न ही फ्रॉइड की बातों से मैं थर्राता हूं। अपनी जवानी में मैंने युद्ध में भाग लिया और इंसानों के वो पक्ष देखे जो आम बुद्धिजीवी नहीं देख पाते। एक जीवशास्त्री की हैसियत से मुझे दुनिया को एक अनूठी दृष्टि से देखने का मौका मिला है – जो पूरी तरह भ्रामक भी नहीं है।'*

हैल्डेन ने अपने शक्तिशाली शरीर पर तमाम तरह के वैज्ञानिक प्रयोग करके अपनी पारिवारिक परम्परा को कायम रखा। एक प्रयोग में उन्होंनें हाईड्रोक्लोरिक अम्ल पीकर उससे मांसपेशियों पर पड़े असर का अध्ययन किया। दूसरे प्रयोग में उन्होंनें कड़ी वर्जिश करके अपने फेफड़ों में पैदा हुई कार्बन डाईआक्साइड का दाब मापा।
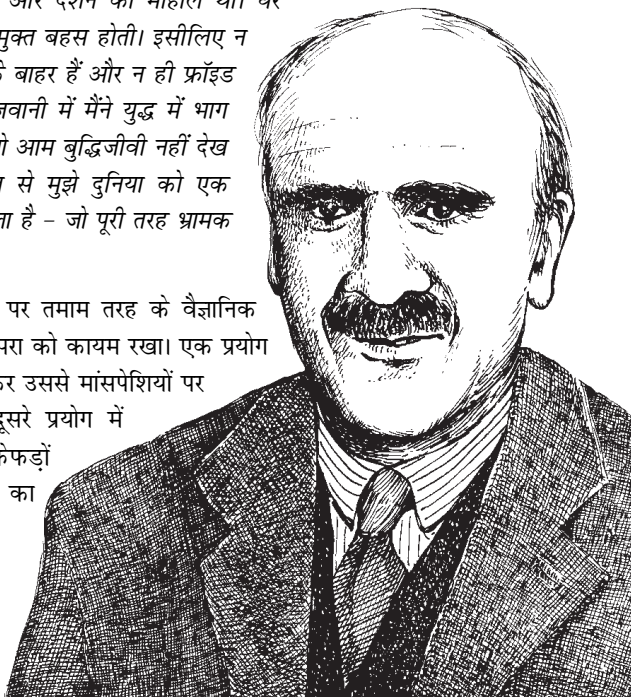
पढ़ाई समाप्त करने के बाद हैल्डेन ने यूनिवर्सिटी कॉलेज, लंदन में जेनेटिक्स और बायोमेटरी के विषय पढ़ाना शुरु किए। लोकसंख्या अनुवांशकी (पाप्यूलेशन जेनेटिक्स) को स्थापित करने वाले तीन दिग्गजों में से एक हैल्डेन थे। महत्ता में उनकी गणना आर.ए. फिशर और सीवेल रॉइट के बाद आंकी जाती है। हैल्डेन ने डार्विन की प्राकृतिक चयन की संकल्पना और मेन्डेल की जेनेटेक्स अवधारणाओं को गणितीय आधार प्रदान कर एक नए जीवशास्त्र की नींव गढ़ी। जेनेटिक्स के अलावा भी हैल्डेन ने जीवशास्त्र, रासायनशास्त्र और गणित के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान किए। उन्होंनें इतिहास और राजनीति पर भी खूब लिखा।

1924 में हैल्डेन ने एक काल्पनिक कहानी लिखी *'डिडेलस'*। यह पहली पुस्तक थी जिसमें बिना संभोग या गर्भ धारण किए परखनली में प्रजनन का वैज्ञानिक वर्णन था। उस समय इस कहानी को साइन्स फिक्शन का एक दहलाने वाला नमूना माना गया। *'डिडेलस'* लोकप्रिय और प्रभावशाली सिद्ध हुई और उसने बीसवीं सदी में लगने वाले धक्कों की एक झलकी पेश की। उससे ही प्रेरित हो
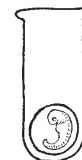
एडलस हक्सले ने 1932 में अपना उपन्यास *'ब्रेव न्यू वर्ल्ड'* लिखा। परखनली प्रजनन से उपजे समाज की इस कहानी में सुख-समृद्ध का अभाव है।

कृत्रिम प्रजनन की सम्भावनाओं को उजागर करने के बाद हैल्डेन ने सुजनन-विज्ञान (यूजेनिक्स) की घोर निंदा की। उन्हें लगा कि, *'मनुष्यों की आजादी के दुश्मन अब जेनेटिक्स थ्योरी को तोड़-मरोड़ कर उसका उपयोग अपने संकीर्ण राजनैतिक हितों के लिए करेंगे।'*

1926 में हैल्डेन ने अखबार *डेली एक्सप्रेस* की रिपोर्टर शारलेट बर्जरस से शादी की।

बाद में उसे तलाक देकर एक जीवशास्त्री हेलन स्परवे से विवाह किया।

हैल्डेन की आम लोगों की खुशहाली में गहरी दिलचस्पी थी। ऑक्सफोर्ड में पढ़ते समय उदारवादी होने के कारण वो वामपंथी धारा की ओर आकर्षित हुए और 1942 में कम्यूनिस्ट पार्टी में दाखिल हुए। बाद में वो कम्यूनिस्ट पार्टी के अखबार *डेली वर्कर* के सम्पादन मंडल के चेयरमैन बने। उन्होंने 300 से भी अधिक लोकप्रिय वैज्ञानिक लेख लिखे जिनमें उनकी जनमुखी राजनीति भी साफ उजागर होती है।

हैल्डेन समाजवादी किस लिए बने? उनके अनुसार मेहनतकश लोगों को भी वही सुविधाएं उपलब्ध मिलनीं चाहिए जो उन्हें मिली थीं। बाद में सोवियत रूस की घटनाओं से उनका मन खिन्न हुआ और उन्होंनें कम्युनिस्ट पार्टी छोड़ दी। स्टालिन के प्रिय वैज्ञानिक लायसेन्को ने जब मेन्डेल की अनुवांशिकी थ्योरी पर कुठाराघात किया तो उन्हें ठीक नहीं लगा। फिर भी स्टालिन और लायसेन्को के प्रति उनकी आस्था बनी रही।

हैल्डेन के शिक्षा सम्बंधी विचार आज भी सामयिक हैं। उनके अनुसार *'हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली बच्चों के लिए अन्यायपूर्ण है क्योंकि वो उन्हें उचित अवसर नहीं देती। न ही किसी छात्र को विज्ञान मनुष्य के दृष्टिकोण से पढ़ाया जाता है। विज्ञान को किसी रुके या गतिशील काल्पनिक पिंड द्वारा पढ़ाने की बजाए उसे सीधे मनुष्य के शरीर का उदाहरण लेकर पढ़ाना चाहिए। मैंने तीन वर्ष की आयु से इसी प्रकार पढ़ना सीखा।'*

अपने निबंध *'ऑन बीइंग द रॉइट सॉइज'* में हैल्डेन ने लिखा कि जीव का माप ही अंततः उसके शरीर के आंतरिक ढांचे को तय करता है। *'कीट-पतंगे इतने छोटे होते हैं इसलिए उनमें ऑक्सीजन पहुंचाने वाली रक्तशिराएं नहीं होतीं। जो थोड़ी ऑक्सीजन की जरूरत होती है वो शरीर की त्वचा बाहर के वातावरण से सोख लेती है। पर जब किसी जीव का शरीर बड़ा होता है तो उसे जटिल उपकरण की जरूरत होती है जिससे कि ऑक्सीजन पम्प द्वारा शरीर की प्रत्येक कोशिका तक पहुंच सके।'*

1937 में उन्होंने *'माई फ्रेंड मिस्टर लीकी'* नाम की पुस्तक लिखी। बच्चों के लिए लिखी उनकी यह शायद एकमात्र पुस्तक है। *मिस्टर लीकी* का पात्र बच्चों को बहुत पसंद आया और उन्होंने हैल्डेन को सारी जिंदगी हजारों पत्र लिखे।

हैल्डेन ने विज्ञान के प्रचार-प्रसार में अद्वितीय कार्य किया। उनके लेख स्पष्टता की मिसाल है। वो विज्ञान की गूढ़ अवधारणाओं का अर्थ तोड़े-मरोड़े बिना उन्हें सरल तरह से पेश करते थे। अपने लेखों, निबन्धों और भाषणों के कारण वो लोकप्रिय विज्ञान में दुनिया की सबसे बड़ी हस्ती माने जाते थे। उन्होंनें खदान मजदूरों को जीवाश्म (फॉसिल्स) खोजने के लिए प्रशिक्षित और प्रेरित किया। और जब कभी कोई खदान मजदूर पृथ्वी की गर्भ से कोई जीवाश्म ढूंढ कर लाता तो वो उसे 10 ब्रिटिश पाउंड के पुरुस्कार से सम्मानित करते।
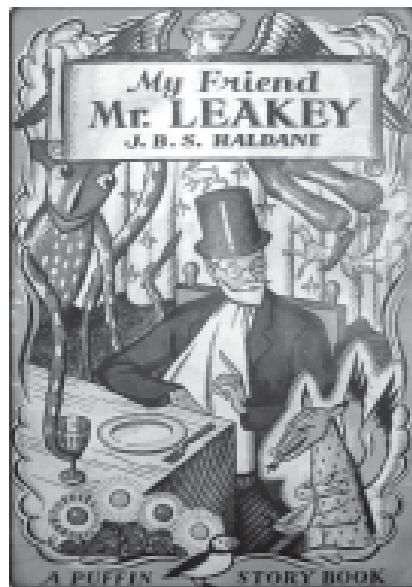
1957 में इंग्लैंड और फ्रांस द्वारा सुइज आक्रमण के विरोध में हैल्डेन ने इंग्लैंड छोड़ा और वो भारत आए। भारत आने का एक कारण यहां पर जेनेटिक्स और बायोमेट्री के क्षेत्र में उपलब्ध अच्छी सुविधाएं भी थीं। उन्होंने प्रफुल्ल चंद्र महालनोबिस के निमंत्रण पर कलकत्ते में स्थित इंडियन स्टैटिस्टिकल इंस्टिट्यूट में काम आरम्भ किया।

इंडियन स्टैटिस्टिकल इंस्टिट्यूट के साथ अपने सम्बंध के बारे में उन्होंने लिखा, *'वैसे मैं इस संस्था का बहुत आभारी हूं। इसका सबसे बड़ा उपकार है कि उसने मुझे कुछ महत्वपूर्ण खोज करने का अवसर दिया है। यहां मैं अपने से कम उम्र के कई ऐसे नौजवान अनुसंधानकर्ताओं को खोज पाया हूं जिनकी वैज्ञानिक शोध में गहरी रुचि है।'* 1962 में हैल्डेन भुवनेश्वर गए और वहां उन्होंनें जेनेटिक्स एंड बॉयोमेट्री लैबोरेट्री स्थापित की।
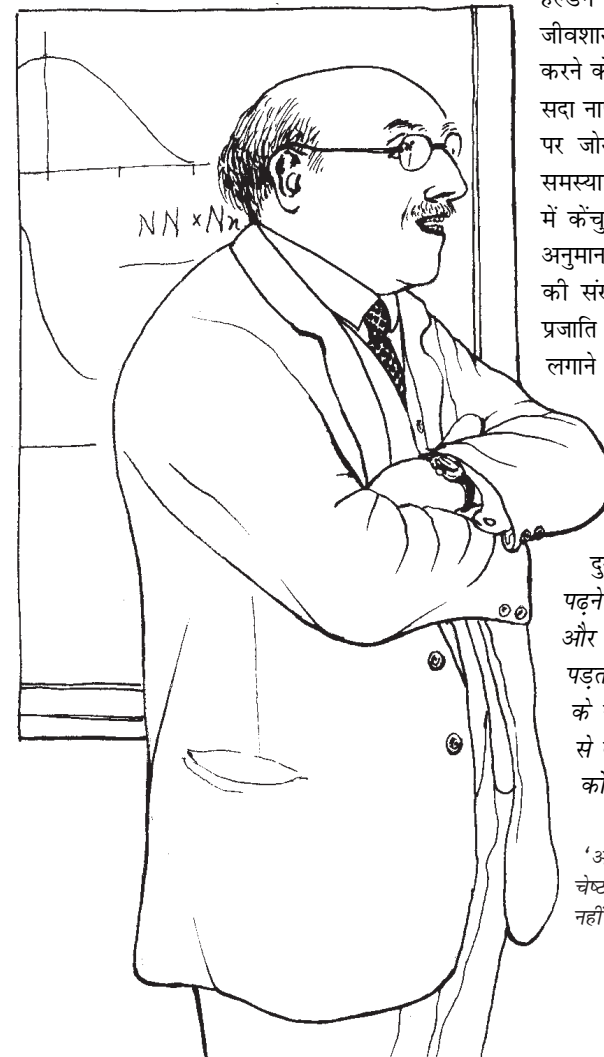
हैल्डेन ने अपनी टीम के युवा सदस्यों को जीवशास्त्र के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अनुसंधान करने के लिए प्रोत्साहित किया। शोधकार्य में सदा नापने-तोलने, सांख्यिकी और विश्लेक्षण पर जोर होता। इसके लिए उन्होंने रोचक समस्याएं चुनीं। मिसाल के लिए - एक खेत में केंचुओं द्वारा खोदी मिट्टी की मात्रा का अनुमान, समान प्रजाति के फूलों में पंखुड़ियों की संख्या में विविधता, एक खेत में एक प्रजाति अथवा विभिन्न प्रजातियों के धान लगाने से उनकी उपज की तुलना।

भारत में जीवशास्त्र के शिक्षण में हैल्डेन के प्रयासों से गुणात्मक परिवर्तन आया। भारतीय विश्वविद्यालयों के हालात से वो दुखी थे। उनके शब्दों में, *'यहां जीवशास्त्र पढ़ने वाले छात्रों को कम उम्र से ही गणित और सांख्यिकी के विषयों को त्यागना पड़ता है। इसके परिणामस्वरूप जीवशास्त्र के छात्र, अनुसंधान की उन कुशलताओं से वंचित रहते हैं जिनकी देश की कृषि को सख्त जरूरत है।'*

'अगर प्रोफेसर राजनीति से अलग रहने की चेष्टा भी करते हैं तो भी राजनीति प्रोफेसरों को नहीं छोड़ेगी।'
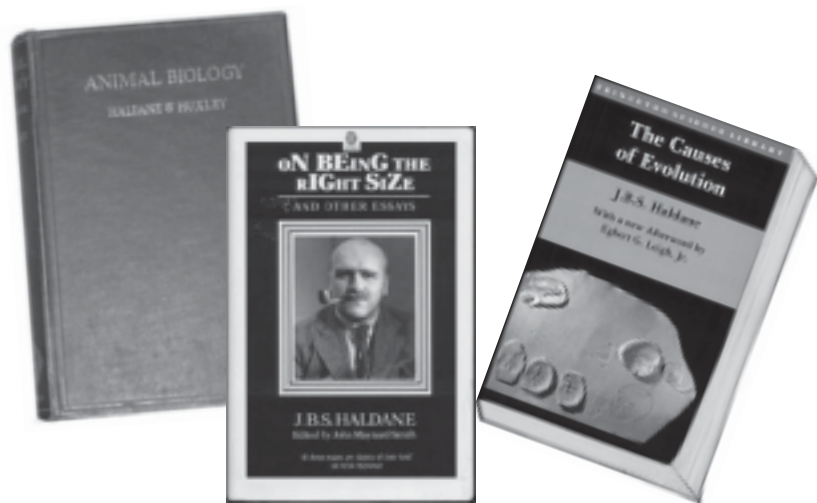
हैल्डेन के अभूतपूर्व योगदानों के लिए उन्हें अनेकों सम्मान मिले। 1932 में उन्हें *फेलो ऑफ द रॉयल सोसाइटी* (एफआरएस) चुना गया। 1953 में रॉयल सोसाइटी ने उन्हें *डारविन मेडल* से सम्मानित किया। 1937 में फ्रेंच सरकार ने उन पर लीजन ऑफ ऑनर्स बख्शा और एकेडमी नैशनैल द लिन्सी ने उन्हें 1961 में *फेल्ट्रीनेली* पुरुस्कार से नवाजा। 1932-36 तक वो जेनेटिकल सोसाइटी के अध्यक्ष रहे।

मृत्यु के कुछ दिन पूर्व कैंसर से पीड़ित हैल्डेन ने अपनी बीमारी पर एक मजाकिया कविता लिखी

> *कैंसर भी क्या अजब चीज है*
> *काश मेरे पास होते होमर के बोल*
> *जिससे मैं करता कैंसर की स्तुति दिल खोल*
> *इस बीमारी से इतने ज्यादा लोग मरते हैं*
> *कि ट्रॉय की लड़ाई में मरे लोग कम लगते हैं।*

इस कविता को हैल्डेन ने अपने तमाम मित्रों को भेजा जिन्होंनें इसका खूब आनंद लिया। हैल्डेन ने एक बेबाक जिंदगी जी और मृत्यु में भी उन्होंनें हिम्मत नहीं हारी।

1 दिसम्बर 1964 को हैल्डेन का देहान्त हुआ। वसीयतनामे के अनुसार उनके मृत शरीर को काकिनाडा स्थित रंगराया मेडिकल कॉलेज को दान स्वरूप भेज दिया गया। *'मैनें जीवन भर शरीर का खूब उपयोग किया है'*, हैल्डेन ने अपनी वसीयत में लिखा, *'और मृत्यु के बाद, चाहें मैं रहूं या न रहूं, इस शरीर का मेरे लिए अब कोई अन्य उपयोग नहीं है और इसे मैं दूसरों के हितों के लिए दान करता हूं। मेरे मृत शरीर के रख-रखाव के लिए खर्च मेरे द्वारा छोड़े धन में से सबसे पहले खर्च करें।'*

> *'सांख्यिकी का उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए, उसका एक पक्ष वैज्ञानिक विकास हो तो दूसरा लोगों की खुशहाली और राष्ट्रीय विकास होना चाहिए।'*
> – प्रफुल्ल चंद्र महालनोबिस

प्रफुल्ल चंद्र महालनोबिस को अक्सर 'प्रोफेसर' के नाम से सम्बोधित किया जाता था। वो प्रशिक्षण से भौतिकशास्त्री थे, दिल से स्टैटिटीशियन थे और विचारों से अर्थशास्त्री थे। यह बात गौरतलब है कि उनका सबसे महत्वपूर्ण योगदान उन क्षेत्रों में था जिनमें उनके पास कोई औपचारिक डिग्री नहीं थी। शायद बहुत से लोग उनके उदाहरण पर अमल करना चाहें। प्रख्यात जीवशास्त्री जे.बी.एस. हैल्डेन ठीक ही कहा था:

> *'यह बात ठीक ही है कि किसी पुरुष या महिला का मौलिक शोध उस विषय में हो जिसमें उसके पास कोई औपचारिक डिग्री न हो। क्योंकि डिग्री हासिल करने के लिए लोग बेकार के तथ्यों को तोते जैसे रटते हैं। जिस विषय में उच्च अंक प्राप्त करने के लिए उन्होंनें चीजें रटी हों उसमें कोई मौलिक कार्य कर पाना उनके लिए बहुत मुश्किल होगा।'*

महालनोबिस का जन्म 29 जून 1893 में कलकत्ता में हुआ। दो भाई और तीन बहनों में वो सबसे बड़े थे। उनका परिवार धनी था और ब्रहमो समाज के उदार मूल्यों और परम्पराओं में विश्वास रखता था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा ब्रहमो स्कूल कलकत्ता में हुई। 1912 में उन्होंने कलकत्ता यूनीवर्सिटी से बीएससी की डिग्री प्राप्त की। वो कलकत्ते में भौतिकशास्त्री सत्येंद्र नाथ बोस और मेघनाथ साहा के समकालीन थे।

उनकी पत्नी निर्मलाकुमारी ने जीवन भर उनके सभी कामों में हाथ बंटाया। निर्मलाकुमारी का परिवार भी बहुत प्रगतिशील विचारधारा वाला था।

महालनोबिस ने तीन प्रमुख कार्य किए - बड़े पैमाने पर सर्वे की मशीनरी गठित की, सांख्यिकी के सिद्धांतों द्वारा देश की ठोस समस्याओं को सुलझाया और विश्व-स्तरीय संस्थाओं को गठित किया। केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी से गणित और भौतिकशास्त्र का उच्च अध्ययन करने के बाद उन्होंनें कुछ समय तक कैविन्डिश लैबोरेटरी में काम किया। 1915 में वो अल्प अवकाश के लिए भारत आए। उन्हें भारत में तमाम चुनौतीपूर्ण समस्याएं नजर आयीं और शायद इसीलिए उन्होंने भारत में ही रहने का निर्णय लिया। उन्होंनें कलकत्ते के प्रेसीडेंसी कॉलेज में भौतिकी शास्त्र पढ़ाना शुरु किया। वहां उन्हें सांख्यिकी द्वारा परीक्षा परिणामों के विश्लेशण का मौका मिला। इस कार्य में उन्हें इतना मजा आया कि उन्होंने फिजिक्स छोड़ दी और फिर तथ्य, आंकड़ों, ग्राफ्स और चार्टस में ही सारी जिंदगी उलझे रहे। महालनोबिस के आने से पहले देश में सांख्यिकी का विषय लगभग नदारद था। इस विषय को किसी भी विश्वविद्यालय में नहीं पढ़ाया जाता था।

महालनोबिस सर्वे सैम्पलिंग तकनीक के अग्रणी प्रणेता थे। भारत की स्वतंत्रता के तुरन्त बाद उन्हें सरकार ने सांख्यिकी सलाहकार की हैसियत से नियुक्त किया। 1955 में उन्होंने भारत की दूसरी पंचवर्षीय योजना का मसौदा तैयार किया जिसमें बेरोजगारी घटाने के लिए तेजी से औद्योगिकरण की दलील दी गई। उन्होंने इस्पात उद्योग और बड़े कारखानों में भारी पूंजी निवेश की अपील की। उनका दृष्टिकोण 1940 की समस्याओं को प्रतिबिम्बित करता था। उस समय की भारी बेरोजगारी को कम करने के लिए शायद बड़ी मात्रा में औद्योगिकरण जरूरी था। परन्तु 1970 में इन अवधारणाओं की वैधता पर प्रश्नचिन्ह लगने शुरु हो गए क्योंकि भारी औद्योगिकरण गरीबी हटाने में सफल नहीं रहा। इसलिए बाद की आर्थिक नीतियों में ग्रामीण गरीबी दूर करने के लिए अन्य योजनाएं बनाई गयीं।
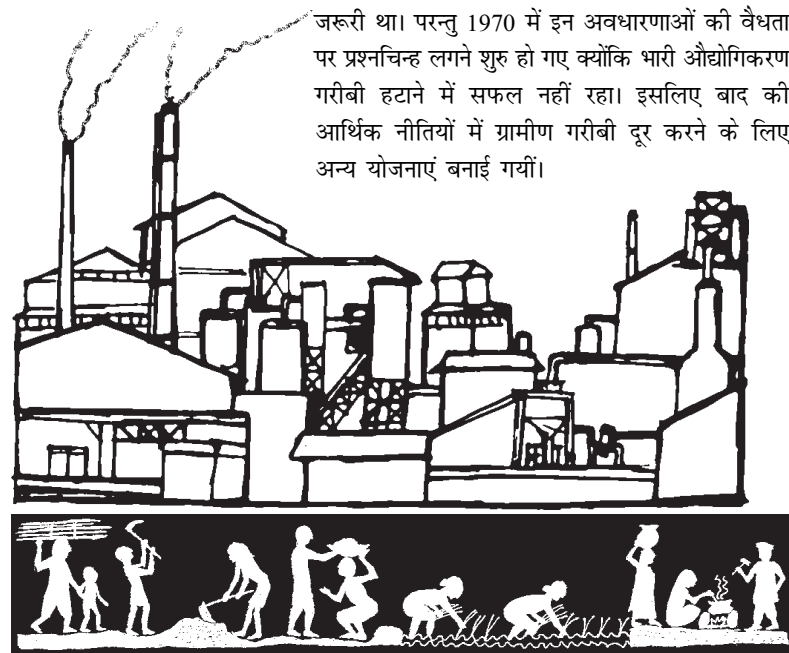
सांख्यिकी तौर-तरीकों के गहन अध्ययन से आकर्षित हो महालनोबिस ने अपने कॉलेज में एक 'स्टैटिस्टिकल लैबोरेट्री' की स्थापना की। 1932 में यही प्रयोगशाला विकसित होकर इंडियन स्टैटिस्टिकल इंस्टिट्यूट (आईएसआई) में परिवर्तित हुई। उन्होंने 1933 में *'सांख्य'* नामक भारतीय सांख्यिकी का एक पत्रिका भी शुरु की। 1950 में उन्होंने नैशनल सैम्पल सर्वे (एनएसएस) और 1951 में सेंट्रल स्टैटिस्टिकल औरगिनॉइगेशन (सीएसओ) स्थापना की।
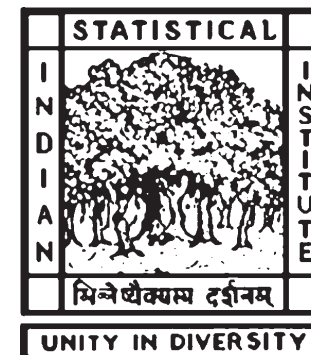
आईएसआई ने विभिन्न विषयों के अंतर्सम्बंधों पर विश्वस्तरीय काम किया और दुनिया के अग्रणी वैज्ञानिकों के साथ मिलकर काम किया। प्रख्यात ब्रिटिश वैज्ञानिक जे.बी.एस. हैल्डेन ने महालनोबिस का निमन्त्रण स्वीकारा और उन्होंने आईएसआई में नियमित शोधकर्ता जैसे काम शुरु किया। हैल्डेन के मार्गदर्शन में आईएसआई जल्द ही जीव और पौध जेनेटिक्स का भारत में अग्रणी शोधकेंद्र बना। विश्व प्रसिद्ध गणितज्ञ और 'साईबरनेटिक्स' के पितामह नॉर्बट वॉइनर ने आईएसआई में प्रोफेसर की हैसियत से छह महीने बिताए।

महालनोबिस ने सांख्यिकी का उपयोग भारत की सामाजिक और भौतिक परिस्थितों को गहराई से समझने के लिए किया। 1920 में उन्होंनें कलकत्ते के भारतीय-इसाई समुदाय का सर्वे कर आंकड़ों द्वारा विभिन्न समुदायों के भौतिक गुणधर्मों को मापने का तरीका खोजा। 1930 में केंद्रीय जूट कमेटी ने उनसे सर्वे द्वारा पूरे बंगाल में जूट के कुल उत्पादन का अनुमान लगाने को कहा। 1950 में बड़े पैमाने पर किया गया यह पहला सवेक्षण था और उससे ही नैशनल सैम्पिल सर्वे (एनएसएस) के पहले चरण की नींव पड़ी। (एनएसएस) के सर्वेक्षणों द्वारा ही देश में गरीबी और लोगों के जीवन स्तर के बारे में प्रामाणिक जानकारी मिल पाई।

उपरोक्त सूची की कौन सी उपलब्धियां उसे महत्वपूर्ण बनाती हैं? (एनएसएस) की शुरुआत से पहले इस प्रकार के बड़े पैमाने के सर्वेक्षण गरीब देशों में तो क्या दुनिया में कहीं भी नहीं हुए थे। भारत की अस्सी प्रतिशत जनता गांवों में रहती थी और उनमें से केवल एक-तिहाई गांव ही सड़कों से जुड़े थे। (एनएसएस) का काम कम-खर्च के सर्वेक्षणों द्वारा दूर-दराज के इलाकों की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के आंकड़े इकट्ठे करना था। इसके लिए गहरे तकनीकी ज्ञान, ऊर्जा, प्रतिबद्धता और लीडरशिप के गुणों की जरूरत थी। महालनोबिस इन सभी गुणों से सम्पन्न थे। कई भारतीय सांख्यिकी विशेषज्ञों ने विश्व-स्तर पर नाम कमाया है और वो सभी (आईएसआई) से जुड़े रहे। महालनोबिस की विशिष्टता थी कि उन्होंनें बहुत-सी ठोस समस्याओं को उठाया और वैज्ञानिक पद्धति द्वारा

गंभीरता से उनका हल खोजने का प्रयास किया। महालनोबिस के अनुसार, *'सांख्यिकी का सामाजिक उद्‌देश्य होना चाहिए'*।

विश्व की कई अकादमियों ने सांख्यिकी और योजना के क्षेत्र में उत्कर्ष कार्य करने के लिए महालनोबिस को सम्मानित किया। 1945 में उन्हें फेलो ऑफ द रॉयल सोसाइटी (एफआरएस) की सदस्यता के लिए चुना गया। 1935 में इंडियन नैशनल साइन्स एकेडमी (इन्सा) की स्थापना में उनका योगदान था। उन्हें कलकत्ता, दिल्ली, स्टॉकहोल्म और सोफिया यूनिवर्सिटियों ने डॉक्ट्रेट की पदवियों से नवाजा। भारत सरकार ने उन्हें पद्मविभूषण से अलंकृत किया।

प्रसिद्ध अमरीकी स्टैटिस्टिशियन डब्लू.ए. डेमिन्ग ने महालनोबिस की प्रशंसा निम्न शब्दों में की:

'किसी भी देश - चाहें वो विकसित हो या अविकसित के पास अपने लोगों के खर्च, बचत, बीमारी से व्यर्थ समय, रोजगारी, बेरोजगारी, कृषि और औद्योगिक उत्पादन पर इतनी विस्तारपूर्वक जानकारी नहीं है।'

और इस सब के लिए हम भारतीय सांख्यिकी के भीष्मपितामह - महालनोबिस का नमन करते हैं। महालनोबिस का देहान्त 79 वर्ष की उम्र में 28 जून 1972 को हुआ।

मेघनाद साहा

(1893 - 1956)

बहुत गैर-बराबरी वाले समाज में निचली जाति के लोगों के साथ अक्सर नाइन्साफी होती है और उन्हें दबाया जाता है। इससे वो अपनी क्षमताओं को पूरी तरह विकसित करने में असमर्थ रहते हैं। पर यही असमानता की भावना कई होनहार लोगों को दासता की बेड़ियों को तोड़ने की प्रेरणा देती है। डॉ. मेघनाद साहा - एक ऐसे ही प्रख्यात भारतीय वैज्ञानिक थे जिन्होंने अपने संघर्ष और अथक लगन द्वारा सामाजिक बंधनों को तोड़ा।

मेघनाद साहा का जन्म 6 अक्टूबर 1893 को सेयोरातली में हुआ। यह स्थान अब बांग्लादेश में है। उनके पिता जगन्नाथ सरकार एक छोटी परचून की दुकान चलाते थे। जब मेघनाद का जन्म हुआ तब घनघोर तूफान आया था और धुंआधार बारिश हुई थी, इसीलिए नवजात शिशु का नाम मेघनाद रखा गया।
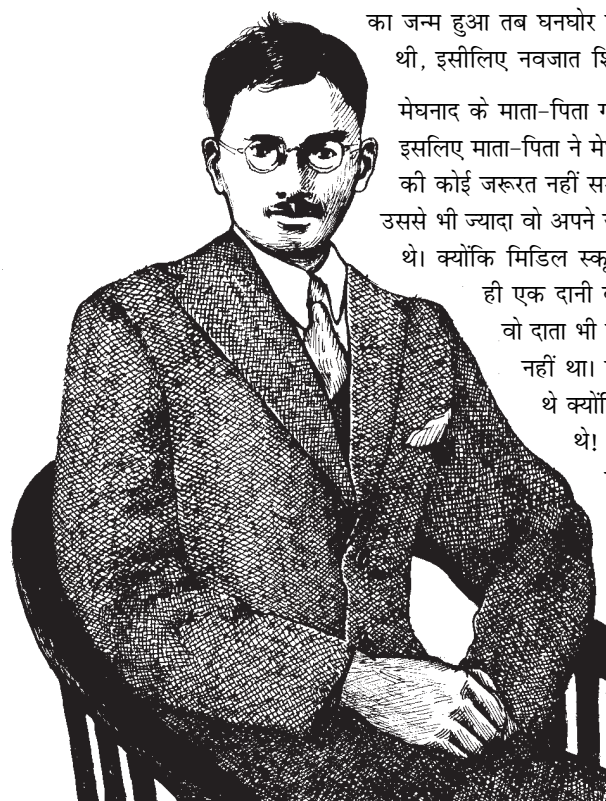
मेघनाद के माता-पिता गरीब थे। उनके भाई स्कूल में फेल हुए थे इसलिए माता-पिता ने मेघनाद को स्कूल भेजने और पैसे व्यर्थ करने की कोई जरूरत नहीं समझी। परन्तु मेघनाद बहुत होशियार थे और उससे भी ज्यादा वो अपने जन्म और जाति के बंधनों को तोड़ना चाहते थे। क्योंकि मिडिल स्कूल घर से दूर था इसलिए स्कूल के पास ही एक दानी व्यक्ति के साथ रहने को मजबूर थे। परन्तु वो दाता भी छुआ-छूत आदि सामाजिक कुरीतियों से परे नहीं था। मेघनाद को अपने बर्तन स्वयं मांझने पड़ते थे क्योंकि बाकी लोग उन्हें छूने से भी इंकार करते थे! पर मेघनाद ने इन सब बातों को धैर्यपूर्वक सहा। 1905 में उन्होंने मिडिल स्कूल की परीक्षा पास की और वो पूरे ढाका डिविजन में सर्वप्रथम आए। उसके बाद उन्होंने ढाका शहर में ही कालिजियेट स्कूल में दाखिला लिया।

'बांटों और राज करो' के नियम द्वारा ही अंग्रेज भारत पर राज करने में सफल हुए थे। लार्ड कर्जन ने बंगाल को पूर्वी और पश्चिमी दो हिस्सों में बांटने के पीछे प्रशासनिक सरलता उसका कारण बताया। परन्तु क्योंकि एक भाग में हिन्दुओं और दूसरे में मुसलमानों का बाहुल्य था इसलिए इस बंटवारे के पीछे छिपी ब्रिटिश कूटनीति स्पष्ट जाहिर थी। राष्ट्रवादी बंगालियों ने इस बंटवारे का विरोध किया। युवा मेघनाथ ने ब्रिटिश विरोधी आंदोलनों में भाग लिया और उसके कारण उन्हें स्कूल से निकाल दिया गया। सौभाग्य से एक अन्य स्कूल ने उन्हें दाखिला दे दिया। 1911 में उन्होंने विज्ञान विषय में इंटरमीडियेट पास किया और उसके पश्चात कलकत्ते के प्रख्यात प्रेसीडेंसी कॉलेज में दाखिला लिया।

प्रेसिडेंसी कॉलेज में मेघनाद की भेंट अन्य होशियार लोगों से हुई। सत्येंद्र नाथ बोस उनके सहपाठी थे, सुभाष चंद्र बोस उनके जूनियर और प्रफुल्ल चंद्र महालनोबिस उनके सीनियर थे। उनके विलक्षण शिक्षकों में जगदीश चंद्र बोस और प्रफुल्ल चंद्र रे थे जिनके नारे - *'विज्ञान इंतजार कर सकता है लेकिन स्वराज्य नहीं''* का मेघनाद पर गहरा असर हुआ। 1913 में बीएससी और 1915 में उन्होंनें एमएससी खत्म की जिसमें वो पूरी कलकत्ता यूनिवर्सिटी में दूसरे स्थान पर आए।

साहा को कलकत्ता में गरीबी और सामाजिक प्रताड़ना सहनी पड़ी। अपनी आजीविका कमाने के लिए वो पूरे शहर में साइकिल पर ट्यूशन देने जाते। स्नातक होने के बाद मेघनाद फाइनैंस सर्विस की परीक्षा में बैठना चाहते थे परन्तु राजनैतिक कार्यकर्ता होने की वजह से वो उसमें नहीं बैठ सके। 1918 में राधारानी रॉय के साथ उनका विवाह हुआ।

उसके बाद साहा ने सत्येंद्र नाथ बोस के साथ कलकत्ता यूनिवर्सिटी के फिजिक्स विभाग में नौकरी की। क्योंकि साहा का प्रशिक्षण गणित में था इसलिए उन्हें भौतिकी के प्रयोग सीखने में कुछ समय लगा।
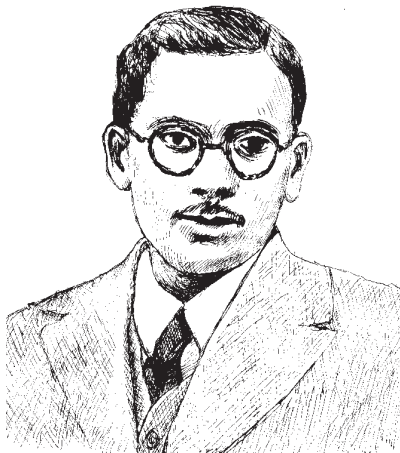
उस समय तेजी से उभरते सापेक्षता के सिद्धांत और 'क्वांटम मिकेनिक्स' के विषयों ने उन्हें आकर्षित किया। 1917 में उन्होंनें अपना पहला शोधपत्र *'फिलोसॉफिकल मैगजीन''* में लिखा। शीर्षक था - *'ऑन मैक्सवैल्स स्ट्रैसिस कनसर्निंग द इलेक्ट्रो मैग्नेटिक थ्योरी ऑफ रेडियेशन'*।' 1919 में कलकत्ता यूनिवर्सिटी ने उन्हें डीएससी की डिग्री प्रदान की।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात वैज्ञानिकों ने तारों के प्रकाश को सूर्य के गुरुत्व के कारण मुड़ते देखा और इस प्रकार आइंस्टीन

के सिद्धांत की पुष्टि की। साहा ने भी इस क्षेत्र में गहरी रुचि ली और अपने शोध से इस विषय - तारों के वर्णक्रम पर अपनी अमित छाप छोड़ी। 1814 में फ्रॉनहौफर ने सूरज के वर्णक्रम में बहुत सी काली रेखाएं खोजीं। 1859 में फ्रॉनहौफर ने यह सिद्ध किया कि वर्णक्रम की रेखाएं निश्चित तत्व (एलीमेंट) दर्शाती हैं। पृथ्वी से पहले हीलियम गैस की खोज सूर्य में हुई थी! बेहतर स्पेकट्रोमीटर्स से चमकीली और स्याह दोनों वर्णक्रम रेखाएं देखने को मिलीं। परन्तु चमकीली रेखाओं की संख्या ज्ञात तत्वों से कहीं अधिक थीं। इसका क्या कारण हो सकता है इस पर बहुत लोगों ने अटकलें लगायीं परन्तु अंत में इसका हल साहा ने खोजा। जब किसी गैस को गर्म किया जाता है तब उसके कुछ इलेक्ट्रॉन निकल जाते है और उससे घनात्मक केन्द्र और ऋणात्मक इलेक्ट्रॉन बच जाते हैं। इसे ऑयोनाइजेशन की प्रक्रिया कहते हैं। साहा ने थर्मल ऑयोनाइजेशन की थ्योरी विकसित की और उसके आध ार पर तारों के वर्णक्रम को समझाया। साहा द्वारा इस गूढ़ पहेली को सुलझाना विज्ञान के विकास में एक मील का पत्थर माना जाता है।

एक अनुदान की वजह से साहा यूरोप का दौरा कर पाए। जमर्नी में उनकी भेंट प्रख्यात वैज्ञानिक आइंस्टीन और प्लैन्क से हुई। कुछ ही समय बाद उन्होंनें सर आशुतोष मुखर्जी के आमंत्रण पर कलकत्ता यूनिवर्सिटी में भौतिकी पढ़ाने के लिए खैरा प्रोफेसर का पद स्वीकारा। 1923 में साहा भारत लौटे। कुछ समय पश्चात वो इलाहाबाद गए जहां विश्वविद्यालय में उन्होंने पंद्रह वर्ष काम किया।

1927 में, सिर्फ 34 वर्ष की अल्पआयु में साहा को रॉयल सोसाइटी की सदस्यता से सम्मानित किया गया। वो नाभिकीय भौतिकी (न्यूक्लियर फिजिक्स) के विशेषज्ञ थे। पॉल डिराक और साहा ने मिलकर चुम्बकीय मॉनोपोल की शक्ति मापने के लिए एक फार्मूला इजाद किया जो आज भी शोधकर्ताओं द्वारा उपयोग में लाया जाता है।

साहा एक सरकारी और संस्थागत वैज्ञानिक से कहीं अधिक थे। उन्होंनें आम लोगों की समस्याओं को सुलझने के भरसक प्रयास किए। जनता के बीच विज्ञान का प्रचार-प्रसार करने के भी उन्होंनें बहुत श्रम किया।

1936 में साहा यूरोप और अमरीका के एक लम्बे दौरे पर गए। फर्मी, हाइजिनबर्ग और बोहर के शोधकार्य ने दुनिया को 'एॅटम बम्ब' का तोहफा दिया। साहा का आणविक ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोगों में गहरा विश्वास था। 1940 में टाटा द्वारा 60,000 रुपयों के अनुदान से साहा ने एक साइक्लोट्रॉन का निर्माण कर भारत में न्यूक्लियर शोध की नींव रखी। नेहरु के सहयोग से उन्होंनें इंस्टिट्यूट ऑफ न्यूक्लियर फिजिक्स की स्थापना की। बाद में इस संस्था का नाम बदल कर साहा इंस्टिट्यूट ऑफ न्यूक्लियर फिजिक्स पड़ा। साहा बाद में इंडियन एसोसिएशन फॉर कल्टिवेशन ऑफ साइन्स के निदेशक भी बने। उन्होंने इस संस्था के लिए अथक परिश्रम किया।

1952 में साहा कलकत्ते के उत्तर-पश्चिमी चुनाव क्षेत्र से लोकसभा के सदस्य चुने गए। उनका राजनैतिक दृष्टिकोण वामपंथी विचारों की ओर उन्मुखी था। उन्हें अंधविश्वासों से घोर नफरत थी। छुआ-छूत, जात-पात के दकियानूसी विचारों से हटकर उनका मनुष्य की तार्किक शक्ति में विश्वास था। साहा एक 'रैशनेलिस्ट' थे। उन्होंने *'साइंस एंड कल्चर'* नामक पत्रिका स्थापित कर बहुत सालों तक उसका सम्पादन भी किया।

अनेक बुद्धिजीवियों की तरह साहा भी योजनाबद्ध अर्थ व्यवस्था से देश की समस्याओं को सुलझाने में विश्वास रखते थे। उन्होंने बंगाल में बाढ़ के तांडव को बचपन में खुद अनुभव किया था। इसलिए वो बाढ़ नियंत्रण के लिए नदियों पर बांध बनाने के पक्षधर थे। उनके ही सुझाव पर दामोदर वैली कारपोरेशन ने अनेकों बांध बनाकर बाढ़ का प्रकोप कम किया।

भारत में हर भौगोलिक क्षेत्र में अलग-अलग प्रकार के कैलेन्डर थे। उनकी त्रुटियों को सुधारने के लिए साहा की अध्यक्षता में कैलेन्डर संशोधन कमेटी का गठन हुआ। जिन पर गहरे मतभेदों के कारण इसमें आंशिक सफलता ही मिल पाई। साहा भाषाओं के आधार पर भारत के पुर्नगठन के भी पक्षधर थे।

साहा नैशनल अकेडमी ऑफ साइन्सिस के संस्थापक थे। वो काउंसिल ऑफ साइंटिफिक एन्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च की कई कमेटियों के अध्यक्ष थे। 1944-46 में वे रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल (वर्तमान में एशियाटिक सोसाइटी) के प्रेसीडेंट भी थे।

दिल्ली दौरे के दौरान 16 फरवरी 1956 को दिल के दौरे से साहा का निधन हुआ। उनके संघर्षों और उपलब्धियों ने दिखाया जाति और गरीबी के बंधनों को अथक परिश्रम और लगन से तोड़ा जा सकता है।

सत्येन्द्र नाथ बोस

(1894 - 1974)

भारत में वैज्ञानिक बहुत हैं फिर भी उच्च कोटि के वैज्ञानिकों की बहुत कमी है। सत्यन्द्र नाथ बोस उन बिरले वैज्ञानिकों में थे जिन्होंने विश्वस्तरीय कीर्तिमान स्थापित किए। उन्होंने ऑइन्सटीन के साथ मिलकर काम किया और एक बुनियादी कण खोजा जो आज भी 'बोसौन' के नाम से प्रसिद्ध है।

सत्येन्द्र नाथ का जन्म 1 जनवरी 1894 को कलकत्ते में हुआ। उनके पिता रेलवे के लेखा-जोखा विभाग में कार्यरत थे। शुरु में सत्येन्द्र नाथ भी उसी स्कूल में पढ़े जिसमें बचपन में कुछ समय के लिए रबीन्द्रनाथ ठाकुर पढ़े थे। बाद में सत्येन्द्र नाथ हिन्दू स्कूल में गए जहां उनके शिक्षक उपेन्द्र बख्शी ने उन्हें गणित की परीक्षा में 100 में 110 अंक दिए। कारण था कि सत्येन्द्र नाथ ने निश्चित समय सीमा में समस्या को हल करने के कई तरीके सुझाए थे!

स्कूल की पढ़ाई खत्म करने के बाद सत्येन ने इंटर की परीक्षा पास की उसके पश्चात उन्होंने कलकत्ते के मशहूर प्रेसीडेंसी कॉलेज में दाखिला लिया। यहां उन्हें प्रफुल्ल चंद्र रे और जगदीश चंद्र बोस जैसे विलक्षण शिक्षकों ने पढ़ाया। सत्येन पढ़ाई में बहुत होशियार थे और उन्हें 'फिसियालोजी' की परीक्षा में 100 प्रतिशत अंक मिले। 1913 में उन्होंने बीएससी (आनर्स) की परीक्षा पास की जिसमें वो मेरिट लिस्ट में सर्वप्रथम आए। एमएससी की परीक्षा में 92 प्रतिशत अंक पाकर उन्होंने पूरी यूनिवर्सिटी में एक नया कीर्तिमान स्थापित किया। बोस के सहपाठी मेघनाद साहा दोनों अवसरों पर दूसरे स्थान पर रहे।

1914 में ही जब सत्येन पढ़ रहे थे तभी उनका विवाह एक डॉक्टर की बेटी उषावती के साथ हुई।
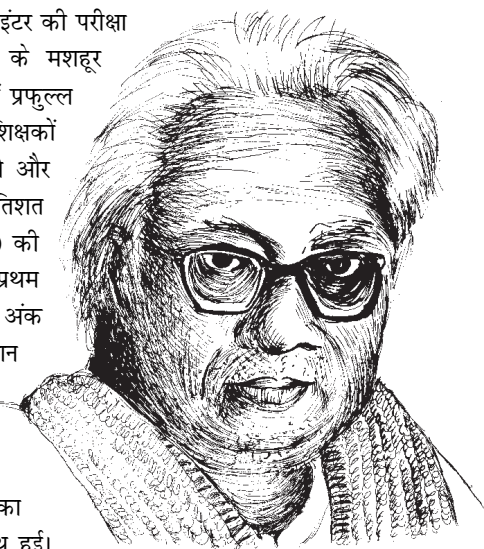
1916 में बोस यूनिवर्सिटी कॉलेज ऑफ साइन्स में लेक्चरर बने। भौतिकी विभाग में उनके साथ उनके पुराने मित्र और प्रतिद्वंदी मेघनाद साहा भी थे। दोनों नवयुवक गणित में प्रवीण थे और उन्होंने खुद शिक्षण कर फिजिक्स में दक्षता हासिल की थी।

1918 में बोस का पहला शोधपत्र *'द इनफ्लूएंस ऑफ द फाइनाइट वाल्यूम ऑफ मॉलीक्यूल्स ऑन द इक्वेजन ऑफ स्टेट' फिलोसाफिकल मैगजीन* लंदन में छपा। उनके अगले दो शोध पत्र पूर्णतः गणित से सम्बंधित थे।

साहा के साथ मिलकर बोस ने ऑइन्सटीन के *'थ्योरी ऑफ जनरल रेलेटिविटी'* वाले शोध पत्र का जर्मन से अंग्रेजी में अनुवाद किया। ब्रिटिश प्रकाशक ने इसका पुरजोर विरोध किया परन्तु ऑइन्सटीन से स्वयं इस बात की अनुमति इन युवा भारतीय वैज्ञानिकों को दी।

1921 में ढाका में एक नई यूनिवर्सिटी की स्थापना हुई जिसके प्रशासक प्रतिभाशाली शिक्षकों को नियुक्त करना चाहते थे। उन्होंने बोस को रीडर का पद स्वीकारने के लिए आमंत्रित किया। नई यूनिवर्सिटी में सुविधाओं के अभाव में भी बोस ने अपनी उत्सुकता कायम रखी। वो मैक्स प्लैन्क की कुछ समीकरणों से असमत थे और उन्होंने उस विषय पर एक अद्वितीय

शोधपत्र लिखा - *'प्लैन्कस लॉ एंड लॉइट क्वांटम हाईपौथिसिस'* जिसमें उन्होंने एक परिपक्व हल सुझाया।

क्योंकि कोई भी वैज्ञानिक पत्रिका उस शोधपत्र को छापने के लिए तैयार नहीं थी इसलिए तीस वर्ष के बोस ने झिझकते हुए उसे अल्बर्ट ऑइन्सटीन के पास टिप्पणी के लिए भेजा। ऑइन्सटीन उस शोधपत्र से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंनें उसे खुद जर्मन में अनुवाद कर प्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक जर्नल *जीटश्रिफ्ट फॉर फिजिक्स* में छपवाया। क्या कोई युवा भौतिकशास्त्री इससे बड़े सम्मान की आशा कर सकता है?

बोस और ऑइन्सटीन की जोड़ी ने मिलकर बोस-ऑइन्सटीन स्टैटिसटिक्स की रचना की जो आज भी क्वांटम मिकैनिक्स में उपयोग होती है। लघु-आणविक कण जो बोस-ऑइन्सटीन स्टैटिसटिक्स की आज्ञा मानते हैं को बोस के नाम पर 'बोसौन' कहा जाता है।

Three Generations of Matter (Fermions)

		I	II	III	Bosons (Forces)
	mass / charge / spin / name	2.4 MeV, ⅔, ½, u, up	1.27 GeV, ⅔, ½, c, charm	171.2 GeV, ⅔, ½, t, top	0, 0, 1, γ, photon
Quarks		4.8 MeV, -⅓, ½, d, down	104 MeV, -⅓, ½, s, strange	4.2 GeV, -⅓, ½, b, bottom	0, 0, 1, g, gluon
		<2.2 eV, 0, ½, ν_e, electron neutrino	<0.17 MeV, 0, ½, ν_μ, muon neutrino	<15.5 MeV, 0, ½, ν_τ, tau neutrino	91.2 GeV, 0, 1, Z^0, weak force
Leptons		0.511 MeV, -1, ½, e, electron	105.7 MeV, -1, ½, μ, muon	1.777 GeV, -1, ½, τ, tau	80.4 GeV, ±1, 1, $W^\pm$, weak force

अन्य लघु-आणविक कणों की तुलना में अनगिनत 'बोसौन' एक ही स्थिति में एक समय में रह सकते हैं। सभी 'बोसौन' सबसे निम्न ऊर्जा की स्थिति में एकत्रित होकर बोस-ऑइन्सटीन कंडन्सेट बनाते हैं।

अक्टूबर 1924 में बोस ने यूरोप का दौरा किया। वहां उन्होंने फ्रांस में एक वर्ष मादाम क्यूरी की प्रसिद्ध प्रयोगशाला में काम किया। उन्होंनें एक साल जर्मनी में भी बिताया जहां ऑइन्सटीन के अलावा उन्होंने अन्य प्रसिद्ध वैज्ञानिकों - लिस मॉइटनर, ऑटो हॉन, वौल्वगैंग पौली और हॉइसिनबर्ग से भेंट की। उस समय बर्लिन को वैज्ञानिक शोध में दुनिया की राजधानी माना जाता था। बोस ने बर्लिन में जो कुछ सीखा उसका उन्होंनें ढाका में भरपूर उपयोग किया। अच्छे कार्य के कारण उनके विभाग में अच्छे शोध छात्र आए। उनमें से एक थे के.एस. कृष्णनन - जिन्होंने 'मैग्नेटिक एनीसोट्रोपी' पर बुनियादी काम कर अनेकों शोधपत्र लिखे।

ढाका में बिताया समय शायद बोस के जीवन का सबसे सुखद काल था। सामुदायिक दंगों को उभरता देख उन्हें बेहद दुख होता था। इसलिए 1947 के बंटवारे के बाद उन्हें कलकत्ता यूनिवर्सिटी में जब खैरा प्रोफेसर के पद के लिए आमंत्रित किया गया तो उन्होंनें उसे तुरन्त स्वीकार लिया।

पचास के दशक के मध्य प्रोफेसर पी.ए.एम. डिराक अपनी पत्नी के साथ कलकत्ता आए। एक दिन वो बोस की कार में बैठे थे। बोस ने उन्हें पिछली सीट पर बैठाया। अगली सीट पर वो ड्राइवर के साथ स्वयं बैठे। जगह की कमी थी, फिर भी बोस ने कुछ छात्रों को अपने साथ बैठने का आग्रह किया। डिराक को इतनी भीड़ से कुछ आश्चर्य हुआ। परन्तु बोस ने पीछे मुड़कर उन्हें शांत करते हुए कहा, *'यहां हम बोस स्टैटिसटिक्स में विश्वास करते हैं।'* डिराक ने अपनी पत्नी को समझाते हुए कहा, *'बोस स्टैटिसटिक्स में चीजों की एक स्थान पर भीड़ होती है।'*

उस समय शोध संस्थाओं की रिसर्च ग्रांट बहुत कम होती थी। उदाहरण के लिए बोस और अन्य प्रोफेसरों को उस काल में केवल 2500 रुपए सालाना की अल्प रिसर्च ग्रांट ही मिलती थी। परन्तु इसके बावजूद कलकत्ता यूनिवर्सिटी की ख्याति एक मौलिक शोधकेंद्र के रूप में पूरे भारत में फैली। परिश्रम और लगन ने साधनों के अभाव की पूर्ति की।

बोस की प्रयोगशाला एक्स-रे क्रिस्टलोग्राफी के क्षेत्र में प्रख्यात हुई। 1945-48 के काल में बोस को इंडियन फिजिकल सोसाइटी का अध्यक्ष चुना गया। 1954 में उन्हें भारत सरकार ने पद्म विभूषण से सम्मानित किया और 1958 में वो रॉयल सोसाइटी के सदस्य चुने गए। अपने महत्वपूर्ण अंतिम वैज्ञानिक योगदान में बोस ने *'यूनिफाइड फील्ड थ्योरी'* पर काम किया, जिसमें उन्होंनें विद्युत-चुम्बकीय बलों और गुरुत्वाकर्षण के बलों को जोड़ने की कोशिश की। परन्तु वैज्ञानिक समुदाय इस अवधारणा से अभी भी मशक्कत कर रहा है।

1956 में बोस विश्वभारती के उपकुलपति बने। यह संस्था शांतिनिकेतन के नाम से ज्यादा प्रख्यात है और उसका नाम सदा के लिए रबीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ जुड़ा है। विज्ञान और आध्यात्म, प्राचीन-पूर्व और आधुनिक-पश्चिम के बीच सेतु का काम करने वाली इस संस्था ने बोस को आकर्षित किया। बोस स्वाभाविक रूप से दोस्ताना अन्दाज के थे और उन्हें वहां लोगों से मित्रता बनाने में कोई दिक्कत नहीं हुई। परन्तु प्रशासन के दांव-पेंच उन्हें नहीं आते थे और उनके द्वारा सुझाए कार्यक्रमों को घोर विरोध हुआ। इसलिए वो खुशी-खुशी 1959 में कलकत्ता यूनिवर्सिटी वापस लौटे।

बोस का व्यक्तिव्य जटिल था और उन्हें वर्गीकृत करना कठिन था। एक विलक्षण गणितज्ञ की हैसियत से उन्होंने केवल 25 शोधपत्र लिखे - जो बहुत कम थे! ज्ञान के व्यापक क्षेत्र पर उनकी पकड़ थी। उन्होंनें रासायनशास्त्र, खनिज विज्ञान, मृदा विज्ञान, दर्शनशास्त्र, पुरातत्वशास्त्र, ललित कलाएं, साहित्य और भाषाओं पर कार्य किया। उन्हें वाद्य संगीत का बहुत शौक था और वो *इसराज* नामक वाद्ययंत्र को बहुत कुशलता से बजाते थे। अक्सर वो प्रसिद्ध चित्रकार जैमिनी रॉय के साथ चित्रकला पर चर्चाएं करते। रबीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी पुस्तक *'विश्व परिचय'* बोस को समर्पित की। बोस ने बांग्ला भाषा में विज्ञान प्रचार-प्रसार के लिए *बांग्यि बिजनान परिचय* संस्था की स्थापना की और *'ज्ञान और बिजनान'* नामक वैज्ञानिक पत्रिका का प्रकाशन शुरु किया। उनके अनुसार उच्च कोटि का वैज्ञानिक सोच केवल मातृभाषा में ही करना संभव था। उन्हें नौकरशाही और फिजूल के तामझाम से सख्त नफरत थी। उनसे कोई भी, कभी भी बिना पूर्व सूचना दिए हुए मिल सकता था। वो अपने मित्रों से घंटों बातें करते थे और उसे कभी भी समय की बरबादी नहीं मानते थे।
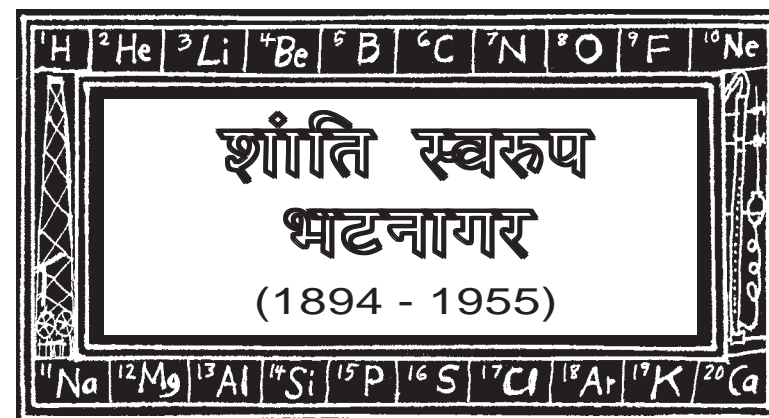
'मैं डॉक्टर भटनागर के बारे में यह निश्चित रूप से कह सकता हूं कि अगर वो न होते तो हमें इतनी अधिक राष्ट्रीय प्रयोगशालाएं देखने को भी नहीं मिलतीं।' - जवाहरलाल नेहरु

शांति स्वरुप भटनागर ने भाभा, महालनोबिस और साराभाई के साथ, स्वतंत्र भारत में वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं के निर्माण का बुनियादी काम किया। एक विलक्षण वैज्ञानिक होने के साथ-साथ भटनागर ने ऐसी तमाम संस्थाओं की स्थापित किया जिनसे भारत में विज्ञान का विकास हुआ। उन्होंनें यह भी दिखाया कि विज्ञान समाज के लिए तभी सार्थक होगा जब वैज्ञानिक उसका उपयोग लोगों की समस्याओं को हल करने के लिए इस्तेमाल करेंगे।

भटनागर का जन्म 21 फरवरी 1984 में भेड़ा में हुआ, जो अब पाकिस्तान के शाहपुर जिले में स्थित है। उनके पिता ने पंजाब विश्वविद्यालय से स्नातक की डिग्री हासिल की थी। वो बहुत प्रगतिशील विचारों के व्यक्ति थे और धीरे-धीरे करके स्थानीय हाई-स्कूल के हेडमास्टर बने। दुर्भाग्यवश, जब शांति स्वरुप केवल आठ माह के थे तभी उनके पिता का देहान्त हो
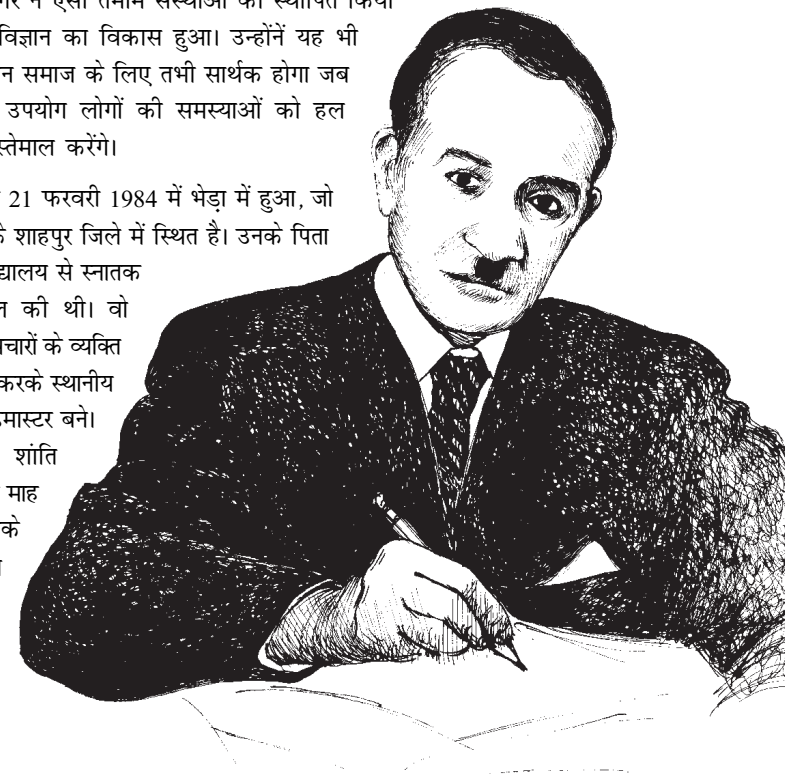
गया। इससे परिवार को घोर आर्थिक समस्याओं से जूझना पड़ा। शांति स्वरुप का लालन-पालन उनके नाना श्री प्यारे लाल के यहां हुआ। श्री प्यारे लाल प्रसिद्ध रुड़की इंजिनियरिंग कॉलेज के पढ़े थे और जाने-माने इंजिनियर थे। नाना के घर में शांति स्वरुप की बचपन से ही विज्ञान में रुचि जगी। वो दिन भर यांत्रिक खिलौनों को जोड़ते-तोड़ते या फिर अपने नाना के औजारों से खेलते। यहीं पर उन्हें उर्दू शायरी और अच्छा साहित्य सुनने और पढ़ने को मिला।

शांति स्वरुप की प्रारम्भिक शिक्षा एक निजी मकतब में हुई। 1907 तक उनकी पढ़ाई ए. वी. हाई स्कूल, सिकंद्राबाद में हुई। फिर एक रिश्तेदार की सिफारिश पर वो लाहौर चले गए और उन्होंने दयाल सिंह कॉलेज में अपनी शिक्षा जारी रखी। यहां उर्दू और विज्ञान दोनों विषयों में उन्होंनें श्रेष्ठता हासिल की। 17 साल की उम्र में उन्होंनें विज्ञान पर अपना पहला शोधपत्र लिखा जो इलाहाबाद के अखबार *'लीडर'* में छपा। इसमें उन्होंने शीरे को उच्च दाब पर गर्म कर बैटरियों में लगने वाले कार्बन इलेक्ट्रोड का विकल्प सुझाया।

1916 में शांति स्वरुप ने फोरमैन क्रिस्टियन कॉलेज, लाहौर से बीएससी और वहीं से 1919 में केमिस्ट्री में एमएससी की परीक्षा पास की। ऐसा लगता है कि उस समय शिक्षा व्यवस्था अधिक लचीली थी। उस वक्त कोई भी स्नातक छात्र अपना विषय बदल सकता था - फिजिक्स छोड़कर केमिस्ट्री ले सकता था। आजकल ऐसी कल्पना भी करना असंभव है! उन्हें दयाल सिंह कॉलेज से वजीफा मिला जिससे वो इंग्लैंड के रास्ते अमरीका पढ़ने के लिए गए। क्योंकि उस समय पहले महायुद्ध का जोर था इसलिए उन्हें अमरीका जाने के लिए जहाज मिलने में दिक्कत हुई। इस कारण उन्होंनें इंग्लैंड में ही रहने का निश्चिय किया। उन्होंनें यूनिवर्सिटी कॉलेज, लंदन में दाखिला लिया और वहां प्रसिद्ध रासायनशास्त्री प्रोफेसर एफ.जी. डॉनान के साथ काम किया। 1921 में उन्हें डीएससी की डिग्री मिली। उनके शोध का विषय था - *'ऑन साल्यूबिलिटी ऑफ बाइवैलेंट एंड ट्राईवैलेंट साल्टस ऑफ हायर फैटी ऐंसिडस इन ऑयल्स एंड देयर इफैक्ट ऑन द सरफेस टेंशन ऑफ ऑयल्स'*।

1921 में भटनागर भारत वापस लौटे और बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी (बीएचयू) में केमिस्ट्री के प्रोफेसर बने। उन्होंने तीन साल से कम समय में ही वहां केमिस्ट्री के एक सक्रिय स्कूल की स्थापना की। उन्होंने बीएचयू का
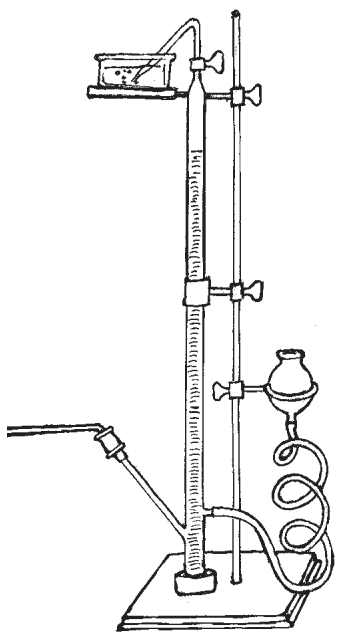
कुलगीत भी लिखा। 1924 में वो यूनिवर्सिटी केमिकल लेबोरेट्री के निदेशक बन कर पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर गए और वहां 1940 तक रहे। इन सोलह सालों में उन्होंने सौ से अधिक शोधपत्र लिखे। मौलिक वैज्ञानिक अनुसंधान का यह उनका सबसे सक्रिय काल था। रासायनशास्त्र के विषय में योगदान के साथ-साथ उन्होंनें कई औद्योगिक समस्याओं के हल भी खोजे। मिसाल के लिए, ऐटॉक ऑयल कम्पनी ने तेल की खोज के दौरान पाया कि उनके बरमे (ड्रिल्स) कीचड़ और नमकीन पानी में अटक कर फंस जाते थे। भटनागर ने इस समस्या का एक सरल उपाय खोजा। उन्होंनें थोड़ा देसी गोंद मिलाया जिससे मिट्टी का गाढ़ापन कम हुआ और समस्या हल हुई। इस कम-लागत के हल से कम्पनी के मालिक इतने खुश हुए कि 1925 में उन्होंनें इस काम के लिए भटनागर को डेढ़-लाख रुपए बतौर रॉयल्टी दिए। इस राशि से भटनागर ने पंजाब यूनिवर्सिटी में पेट्रोलियम रिसर्च का नया विभाग खोला। अगले दस वर्षों में भटनागर और उनके छात्रों ने कई रोजमर्रा की समस्याओं पर शोध किया - मोम, मिट्टी के तेल की लौ की ऊंचाई बढ़ाने, लोहे को जंग लगने से बचाना आदि। इसके लिए उन्हें कई पेटेन्ट भी मिले। रॉयल्टी का पचास प्रतिशत भाग यूनिवर्सिटी में वैज्ञानिक शोधकार्य के लिए खर्च किया जाता था। भटनागर ने दो महत्वपूर्ण काम किए - पहला अग्रणी शोध और दूसरा दैनंदिन की समस्याओं के हल। यह दोनों काम दरअसल एक ही सिक्के के दो पहलू थे। उन्होंनें ज्ञान के समुचित उपयोग से पूंजी कमाई। बौद्धिक कार्य के मूल्य को उन्होंने बहुत पहले ही पहचान लिया था।

1930 में देश के विकास के लिए संसाधनों का समुचित दोहन करने के लिए कोई भी शोध संस्थाएं नहीं थीं। 1939 में द्वितीय महायुद्ध से पहले भारत सरकार ने बोर्ड ऑफ साइन्टिफिक एंड इंडस्ट्रियल रिसर्च की स्थापना की और भटनागर को उसका सलाहकार नियुक्त किया।

26 सितम्बर 1942 को काउंसिल ऑफ साइन्टिफिक एंड इंडस्ट्रियल रिसर्च (सीएआईआर) की स्थापना हुई। भटनागर स्थापना से लेकर अगले 15 सालों के साथ उसके साथ अंतरंग रूप से जुड़े रहे।

भटनागर ने सी.एस.आई.आर. के लिए एक स्पष्ट खाका तैयार किया। पुराने लोग अभी भी इस किस्से को दोहराते हुए नहीं थकते हैं। भटनागर प्रधानमंत्री नेहरु के बहुत करीब थे। वो नेहरु से सुबह-सुबह
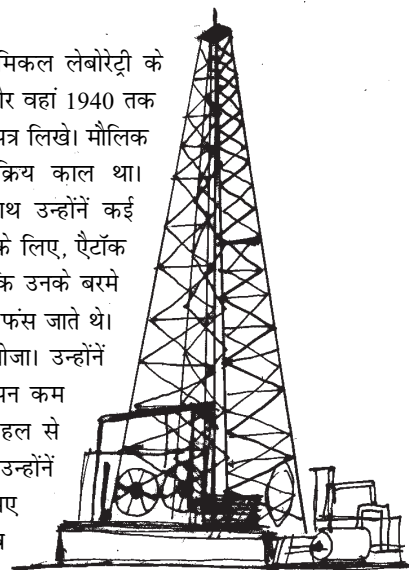
टहलने के समय मिलते और उनसे एक नई प्रयोगशाला की स्थापना की अनुमति लेते और दफ्तर खुलने से पहले उसके सारे कागजात तैयार कर देते! यह उनकी दूरदर्शिता का द्योतक है कि भटनागर के देहान्त के समय देश में 12 राष्ट्रीय स्तरीय प्रयोगशालाएं कार्यरत थीं। इनमे नैशनल केमिकल लैबोरेट्री और नैशनल फिजिकल लैबोरेट्री जैसी प्रयोगशालाएं भी शामिल थीं। भटनागर ने केरल के तटों पर मोनाजाइट रेत के समुचित दोहन के लिए इंडियन रैर-अर्थ लिमिटेड कम्पनी की स्थापना की। वो कई निजी तेल रिफानिंग कम्पनियां स्थापित करवाने में भी सफल रहे। भटनागर कई उच्च पदों पर आसीन रहे। वो ऍटामिक एनर्जी कमीशन के सचिव थे, काउंसिल ऑफ साइन्टिफिक एंड इंडस्ट्रियल रिसर्च के निदेशक और यूनिवर्सिटी ग्रांट्स कमीशन के चेयरमैन रहे। 1936 में उनके उल्लेखनीय कार्य के लिए उन्हें आर्डर ऑफ द ब्रिटिश एम्पायर से सम्मानित किया गया। 1941 में उन्हें नाइटहुड प्रदान किया गया और 1943 में उन्हें रॉयल सोसाइटी का सदस्य मनोनीत किया गया। कई विश्वविद्यालयों ने उन्हें मानक डिग्रियां भी दीं।

बचपन में ही भटनागर पर ब्रहमो-समाज का गहरा प्रभाव पड़ा था। वो अपनी पत्नी लाजवंती को बहुत चाहते थे। वो रोमांचक प्रकृति के इंसान थे और रिटायरमेंट के बाद एक साधारण किसान जैसे खेती करना चाहते थे। उनका सपना था कि दोपहर में उनकी पत्नी उनके लिए खेत में खाना और एक मटकी में छाछ लेकर आएगी!

1 जनवरी 1955 को दिल से दौरे से भटनागर का देहान्त हुआ। उनकी उम्र उस समय मात्र साठ वर्ष की थी। अपनी अल्पआयु में भटनागर ने बहुत कुछ हासिल किया। वो विज्ञान के उपयोग से देश की आर्थिक समस्याओं को सुलझाना चाहते थे। एक दूरदर्शी दृष्टा के नाते वो भारत में वैज्ञानिक अनुसंधान संस्थाओं की एक पुख्ता श्रृंखला खड़ा करना चाहते थे। उनके द्वारा काउंसिल ऑफ साइंटिफिक एंड इंडस्ट्रियल रिसर्च का बोया पौधा आज एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर चुका है। आज इन वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में ऍरोस्पेस, बॉयोटेक्नालोजी, केमिस्ट्री से लेकर तमाम अन्य अग्रणी क्षेत्रों में अनुसंधान चल रहा है।
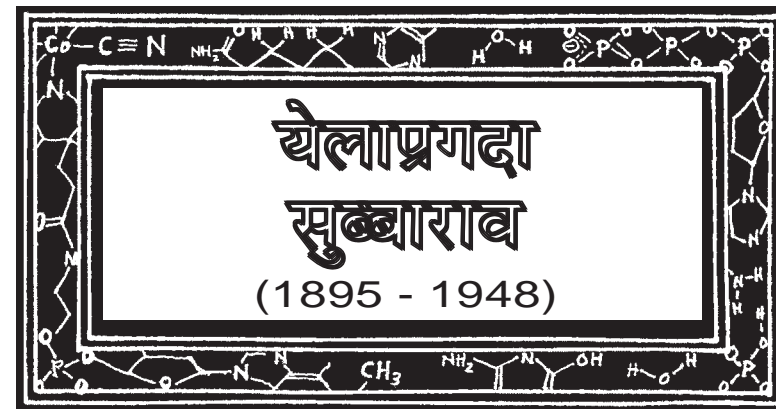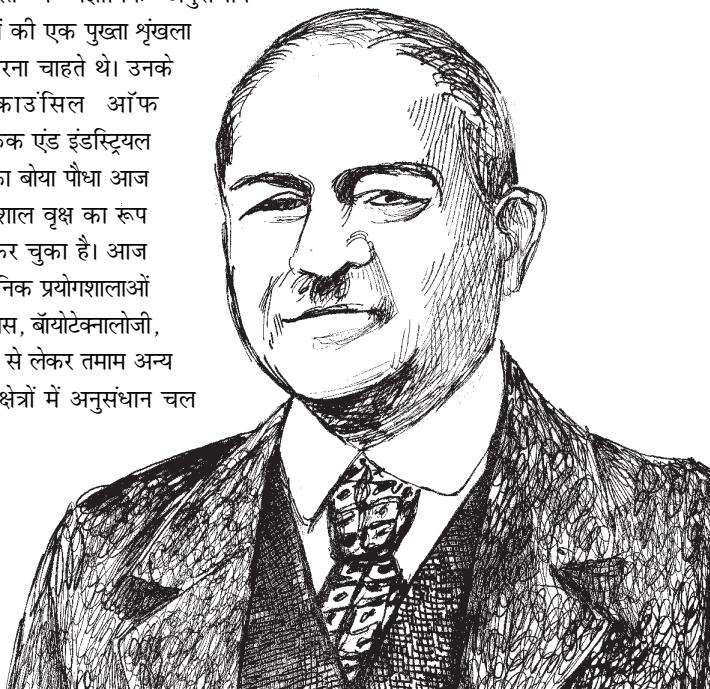
'शायद आपने डॉक्टर येलाप्रगदा सुब्बाराव का नाम पहले कभी नहीं सुना हो। क्योंकि वो जन्मे इसलिए शायद आप कुछ अधिक साल जी पाएं।' - डोरॉन के अंतरिम

न्यूयार्क हेरल्ड ट्रिब्यून ने डॉक्टर येलाप्रगदा सुब्बाराव को, *'शताब्दी के एक विलक्षण डॉक्टर,'* का खिताब दिया। सुब्बाराव ने कई जानलेवा बीमारियों का इलाज खोजा और अपने शोधकार्य से पूरी दुनिया में लाखों-करोड़ों लोगों की जान बचाई।

सुब्बाराव का जन्म 12 जनवरी 1895 को आंध्र प्रदेश के पश्चिमी गोदावरी जिले के भीमावरम गांव में हुआ। सात भाई-बहनों में वो तीसरे नम्बर के थे। उनके पिता जगन्नाथम ने खराब सेहत के कारण सेवानिवृत्ति से बहुत पहले ही रिटार्यमेंट ले लिया था। इस कारण परिवार की आर्थिक स्थिति एकदम जर्जर थी। स्कूल में सुब्बाराव खोए रहते और उनका बिल्कुल मन नहीं लगता। एक बार उन्होंनें स्कूल छोड़कर बनारस जाकर कुछ उद्योग करने की ठानी। परन्तु उनकी दृढ़ प्रतिज्ञ मां वेनकम्मा ने उन्हें रास्ते में ही पकड़ा और उन्हें वापस स्कूल भेजा। अपने पति की मृत्यु के बाद वेनकम्मा ने अपनी मंगलसूत्र बेचा जिससे कि सुब्बाराव की पढ़ाई जारी रह सके।

Yellapragada Subbarow
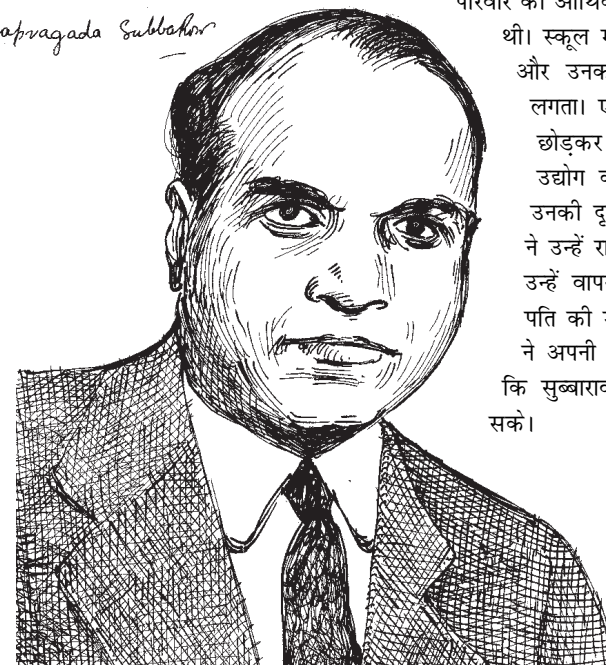
प्रेसीडेंसी कॉलेज, मद्रास में पढ़ते समय सुब्बाराव अपना अधिकांश समय रामकृष्ण मिशन के आश्रम में बिताए। वो त्याग की भावना से ओत-प्रोत थे और साधु-सन्यासी बनना चाहते थे। परन्तु उनकी मां को यह बिल्कुल पसंद नहीं था। अंत में सुब्बाराव ने मद्रास मेडिकल कॉलेज में दाखिला लिया जिससे कि डॉक्टर बनने के बाद वो मिशन के किसी अस्पताल में सेवा कर सकें। क्योंकि परिवार उनकी पढ़ाई का खर्च उठाने में असमर्थ था इसलिए उन्होंने इसका भी एक अनूठा हल खोज निकाला - उन्होंनें शादी की और अपने ससुर से मदद की गुहार की! सुब्बाराव की मां को शादी का निर्णय एक अन्य कारण से अच्छा लगा। उन्हें लगा शादी के बाद धर्म के प्रति सुब्बाराव का पागलपन कुछ कम होगा! इस प्रकार 10 मई 1919 को सुब्बाराव का विवाह उनसे 12 वर्ष छोटी शेषागिरी से सम्पन्न हुआ। सुब्बाराव के काम के बंधनों के कारण शेषागिरी का वैवाहिक जीवन काफी दुखद रहा।

महात्मा गांधी के स्वेदेशी आंदोलन से प्रेरित होकर सुब्बाराव ने विदेशी कपड़ों का बहिष्कार किया और खुद एक खद्दर का कोट पहनने लगे। इससे उनके ब्रिटिश प्रोफेसर बहुत नाराज हुए और इस वजह से सुब्बाराव को एमबीबीएस की डिग्री से वंचित रहना पड़ा। जब उन्हें निचली डिग्री एलएमएस प्रदान की गई तो सुब्बाराव ने रोष में आकर पश्चिमी उपचार पद्धति छोड़ दी और मद्रास आयुर्वेद कॉलेज में व्याख्याता बन गए।

अमरीका से आए एक डॉक्टर ने उन्हें उच्च शिक्षण के लिए अमरीका जाने की सलाह दी। एक दानी संस्था के अनुदान और ससुर की आर्थिक मदद से सुब्बाराव अमरीका के लिए रवाना हुए। वो अपनी अल्प आयु की पत्नी से तीन साल में स्वदेश वापस आने का वादा करके गए। परन्तु किस्मत की ऐसी मार रही कि वो दुबारा कभी भी अपनी पत्नी का मुंह तक नहीं देख पाए। जब 26 अक्टूबर 1923 को सुब्बाराव बॉस्टन पहुंचे तब उनकी जेब में मात्र 100 अमरीकी डॉलर थे। एलएमएस की निचली डाक्ट्री डिग्री के कारण उनको न वजीफा और न ही कोई नौकरी मिली। शुरु में प्रोफेसर रिचर्ड स्ट्रांग ने उनकी फीस भरी और उनको जेबखर्च के लिए पैसे दिए। खाली समय में पैसे कमाने के लिए सुब्बाराव अन्य छोटे-मोटे कामों के साथ-साथ अस्पताल के शौचालय भी साफ करते।

अंत में उन्होंने हारवर्ड मेडिकल स्कूल से 'ट्रॉपिकल मेडिसिन' में डिप्लोमा पास किया और उसके बाद डॉक्टर सायरस फिस्क की बॉयोकेमिस्ट्री की प्रयोगशाला में नौकरी पर लगे। यहां उन्होंने रक्त और मूत्र में फॉस्फोसर की मात्रा मापने के फिस्क-सुब्बाराव तरीके का आविष्कार किया। यह अत्यंत संवेदनशील तरीका आज सभी अस्पतालों में उपयोग होता है और बॉयोकेमिस्ट्री के सभी छात्रों को पढ़ाया जाता है। आजकल इस सशक्त पद्धति द्वारा अन्य कई बीमारियों की जांच भी की जाती है।

ए टी पी + H_2O ⇌ फास्फेट + ए डी पी + ऊर्जा
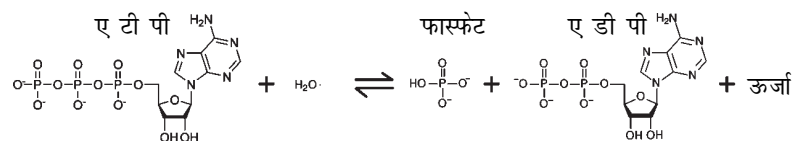
इस तरीके द्वारा सुब्बाराव ने एक अन्य स्थापित मान्यता - कि ग्लाईकोजिन ही मांसपेशियों की सिकुड़न की ऊर्जा का स्रोत है, को चुनौती दी। इस दावे की कारण 1922 में हिल और मेयरहौफ को मेडिसन और फिजियालोजी का नोबेल पुरुस्कार मिला था। सुब्बाराव की खोज के अनुसार एडीनोसीन ट्राई फॉसफेट (एटीपी) हरेक बॉयोकेमिकल प्रक्रिया को ऊर्जा का स्रोत्र थी - जिसमें मांसपेशियों का सिकुड़ना शामिल था। इसके कारण आराम कर रही मांसपेशी में थकी मांसपेशी की तुलना में अधिक एटीपी होगी। यह खोज अप्रैल 1927 को *साइंस* नामक विज्ञान पत्रिका में छपी। इस शोधकार्य के कारण सुब्बाराव को पीएचडी की डिग्री भी मिली। इससे वैज्ञानिक जगत में अचानक सुब्बाराव का सिक्का चमका और लोग उनके काम को बहुत आदर से देखने लगे। इस विलक्षण कार्य के कारण ही रॉकफेलर फाउंडेशन ने उन्हें एक फेलोशिप दी।
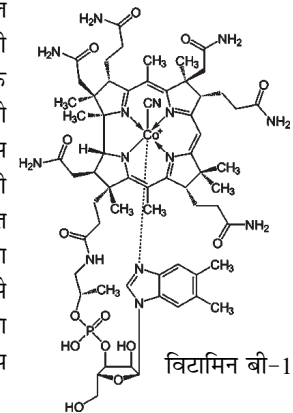
विटामिन बी-12

सुब्बाराव ने उसके बाद रक्तक्षीणता (अनीमिया) पर काम किया। इस एक बहुत आम रोग है। उन्होंनें सुअर के जिगर (यकृत) से विटामिन बी-12 का निचोड़ निकाला जो अनीमिया के खिलाफ बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुआ। इस खोज ने सारी दुनिया में दूसरे विटामिनों को खोजने की होड़ जैसी लगी और इससे आने वाले सालों में विटामिनों के तमाम अन्य स्रोत्र खोजे गए।

यूनिवर्सिटी की तुलना में सुब्बाराव को बड़ी फार्मा कम्पनी में शोधकार्य की अधिक सुविधाएं मिलने की सम्भावना लगी। इसलिए उन्होंनें 1940 में विश्व विख्यात लेडरली लेबोरेट्री में अनुसंधान शुरु किया। यहां पर काफी संघर्ष के बाद वो फॉलिक ऐंसिड का संश्लेषण करने में सफल हुए। पिछले पचास सालों में दोनों फॉलिक ऐंसिड और विटामिन बी-12 अनीमिया के इलाज में बहुत कारगर साबित हुए हैं।

लेडरली लेबोरेट्री में सुब्बाराव की टीम तमाम बीमारियां का इलाज खोजने में तत्परता से जुटी थी। सुब्बाराव इस टीम के कप्तान थे। एक डॉक्टर की हैसियत से वो वैज्ञानिकों को इंसानी बीमारियों के उपचार खोजने के लिए प्रेरित करते और एक वैज्ञानिक की हैसियत से वो डॉक्टरों को विशिष्ट रोगी सूक्ष्म-कीटाणुओं के खातमे के लिए दवाई खोजने के लिए उकसाते। सुब्बाराव एक सम्पूर्ण वैज्ञानिक थे - वो रासायनशास्त्रियों के बीच केमिस्ट और डॉक्टरों की संगत में विलक्षण डॉक्टर थे।

आखरी दौर में वो एक ऐसी दवा की खोज में थे जिससे सभी प्रकार के बुखार का इलाज हो सके। 1928 में एलिग्जैन्डर फ्लेमिंग ने कीटाणुओं मारने वाली पेन्सिलिन फफूंद की खोज की थी। इसी से एंटीबॉयोटिक के स्वर्ण युग का प्रारम्भ हुआ। सुब्बाराव ने तुरन्त इस रामबाण औषधी की संभावनाओं को पहचाना और खुद एंटीबॉयोटिक्स पर अनुसंधान शुरु किया। इसके लिए उन्होंनें एक वनस्पतिशास्त्री को दुनिया भर से लाए मिट्टी के नमूनों में से फफूंद की सही किस्में छांटने के काम में लगाया। अंत में वो फफूंद ए-377 को उगाने में सफल रहे। इस फफूंद की विशेषता थी कि वो *'घातक कीटाणुओं को कोबरा सांप के जहर जैसे खत्म करती परन्तु मेहमान जीव के साथ बिल्ली जैसा दोस्ताना व्यवहार करती।'* इस शोध कार्य की परिणिति *टेट्रासाइक्लिन* में हुई। यह एंटीबॉयोटिक दुनिया में सबसे अधिक इस्तेमाल होने वाली दवा है।

सुब्बाराव लगातार अपना अनुसंधान क्षेत्र बढ़ा रहे थे और अन्य बीमारियों का इलाज खोज रहे थे। अगले चरण में उन्होंने लकवा (पोलियो) और कैंसर पर शोध किया। उनके द्वारा विकसित एक दवा *टेयोरप्रेटिन* रक्त कैंसर में उपयोगी सिद्ध हुई।

9 अगस्त 1948 में जब सुब्बाराव काम पर नहीं आए तो उनके साथियों को चिन्ता हुई। सुब्बाराव ने पहले कभी ऐसा नहीं किया था। घर खोलने पर सुब्बाराव को दिल के दौरे से मृत पाया गया। तब उनकी आयु मात्र 53 साल की थी। 1923 में भारत छोड़ने के बाद वो अपने वतन कभी वापस नहीं लौटे।

सुब्बाराव ने अपने वैज्ञानिक शोध को कभी नहीं बेंचा। उन्होंनें खुद आविष्कार की दवाईयों पर कभी पेटेन्ट नहीं लिए। उन्होंनें कभी भी पत्रकारों को साक्षात्कार नहीं दिए और सभी सम्मानों और पदकों को नकारा। सुब्बाराव की जन्म शताब्दी 1995 में मनाई गई। उनके विलक्षण कार्य के लिए भारत सरकार उन्हें 'भारत-रत्न' पदक से सम्मानित करे इस बात की सिफारिश की गई। अमरीकी नागरिकता के लिए उपयुक्त होने के बावजूद वो सारी जिंदगी भारतीय नागरिक बने रहे। यह सच है कि उन्होंनें अधिकांश योगदान अमरीका में रह कर ही किया परन्तु यह सब कुछ उनकी भारतीय प्रतिभाओं और संवेदनओं के कारण ही सम्भव हो पाया। धन और प्रसिद्धी में उन्हें कोई रुचि नहीं थी। वो अपनी सारी जिंदगी जानलेवा बीमारियों का इलाज खोजते रहे और उससे समस्त मानवता का कल्याण हुआ।

सलीम अली

(1896 - 1987)
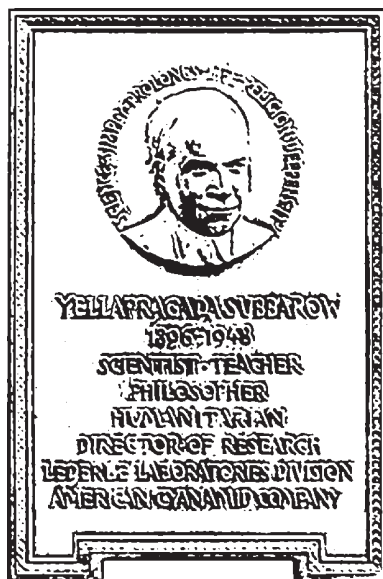
'आपके जीवन का संदेश सभी दिशाओं में फैलेगा। हमें उम्मीद है कि बया आपका नाम अपने घोंसलों में बुनेंगी और स्विफ्ट पक्षी आपके सम्मान में आकाश में अंडाकार गोते लगाएंगी।'

- पॉल गैटी संरक्षण पुरुस्कार का उद्धृत

सलीम अली बीसवीं सदी में निर्विवाद रूप से भारत के सबसे महान जीवशास्त्री थे। लोग प्यार से उन्हें 'बर्डमैन' के नाम से सम्बोधित करते थे। उन्होंनें 80 वर्षों तक भारतीय महाद्वीप के पक्षियों का अवलोकन किया और उनकी जानकारी को किताबों में संजोया।

सलीम अली का जन्म एक धनी व्यापारी परिवार में हुआ था। बचपन में वो काफी कमजोर थे और इस कारणवश उन्हें अक्सर स्कूल से छुट्टी लेनी पड़ती थी। पर बाद में नियमित कसरत से उनकी सहनशक्ति बढ़ी और वो बाद में कठिन और दुर्गम यात्राएं आसानी से तय कर पाए। दस साल की कम उम्र में ही उनके माता-पिता का देहान्त हो गया। उसके बाद उनके मामा अमरुद्दीन तैयाबजी और मामी हमीदा ने बहुत प्यार से उनका लालन-पालन किया। अपने लम्बे जीवनकाल में सलीम अली कभी सरकारी अनुदान पर निर्भर नहीं रहे। उनके प्रगतिशील परिवार ने उनका जीवन भर सहयोग किया। उन्होंनें बम्बई के
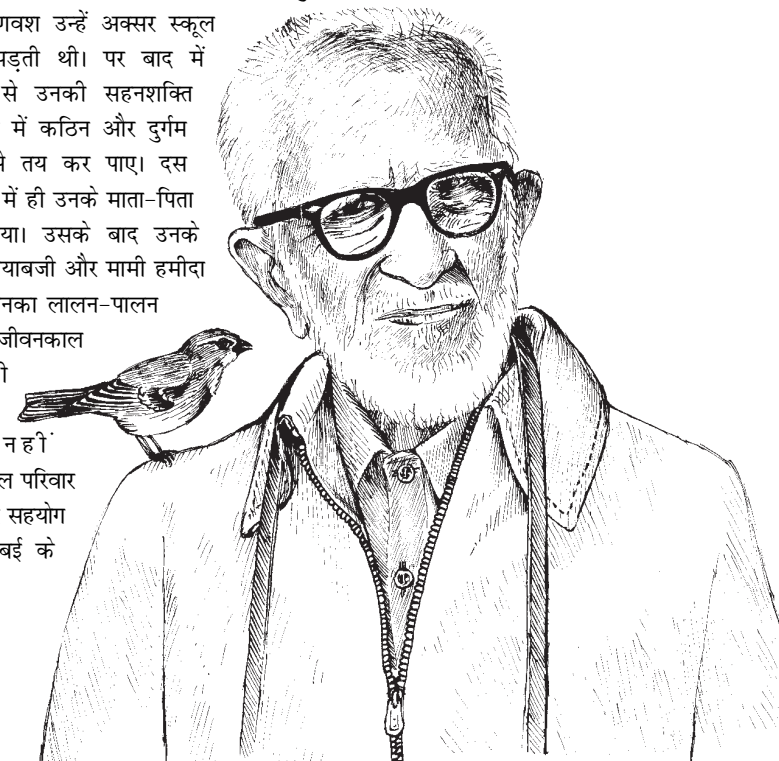
सेन्ट जेवियर कॉलेज में जीवशास्त्र पढ़ा परन्तु उन्हें बीच में ही अपनी पढ़ाई छोड़ कर परिवार के टंगस्टन के व्यापार की देख-रेख के लिए बर्मा जाना पड़ा। परन्तु व्यापार की दुनिया में उन्हें रास नहीं आया और वो जल्द ही वापस जीवशास्त्र की ओर उन्मुख हुए। 1918 में एक दूर की रिश्तेदार तेहमीना के साथ उनका विवाह हुआ।

ज़ूओलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया में जब उन्हें नौकरी नहीं मिली तब उन्होंनें कुछ समय के लिए प्रिन्स ऑफ वेल्स म्यूजिअम में गॉइड जैसे काम किया। 1928 में वो जर्मनी गए और वहां ज़ूओलॉजिकल म्यूजिअम ऑफ बर्लिन के प्रोफेसर इरविन स्ट्रेसमैन से प्रशिक्षण लिया। 1930 में अच्छी नौकरी न मिलने की वजह से वो बम्बई के निकट एक तटवर्ती गांव किहिम में बस गए। वहां उन्होंनें मचान से बया पक्षियों का सूक्ष्म अवलोकन और अध्ययन किया। बया पक्षियों के प्रजनन सम्बंधी जीवशास्त्र ने उन्हें एक विश्व-स्तरीय पक्षी निरीक्षक के रूप में स्थापित किया। उन्होंनें पाया कि नर बया ही घोंसला बनाता है। फिर एक दिन मादा बया आकर आधे बने घोंसले और अपने पति का भार सम्भालती है! बया के हजारों शिशु सिर्फ छोटे कीड़े खाते हैं क्योंकि वे सख्त अनाज को हजम नहीं कर सकते। इसलिए व्यस्क बया पक्षी हानिकारक कीड़े-मकौड़ों की आबादी को काबू रखने में एक अहम रोल निभाते हैं। सलीम अली ने आर्थिक वनस्पतिशास्त्र के विषय को हरेक कृषि विश्वविद्यालय में पढ़ाए जाने की सिफारिश की।

कभी-कभी सलीम अली ने पक्षियों का भोजन के लिए भी शिकार किया परन्तु ज्यादातर बार उन्होंनें उन्हें वैज्ञानिक निरीक्षण के लिए ही मारा। धीरे-धीरे उन्होंनें चिड़ियों का शिकार पूरी तरह बन्द कर दिया। अब वो पक्षी निरीक्षण केवल बॉइनॉक्यूलर से ही करते। कभी-कभी वो पक्षी पहचानने के लिए अवश्य पकड़ते। फिर उनके पैर में
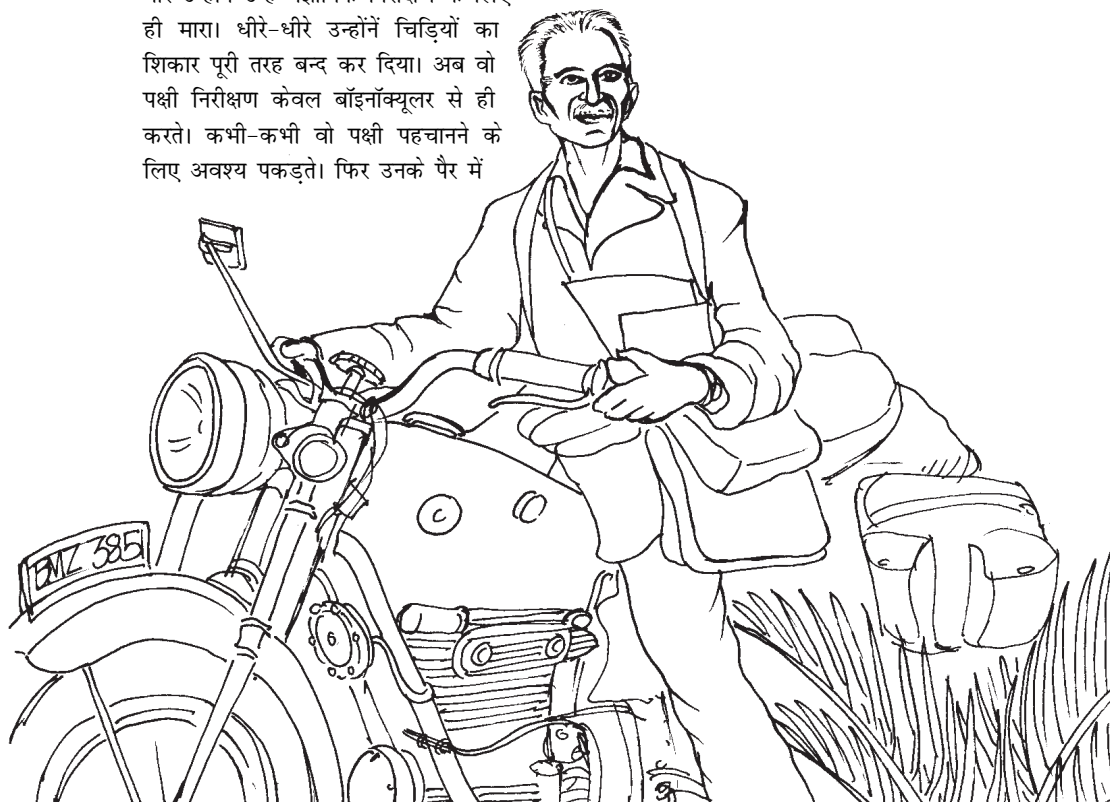
एक निशानी-छल्ला (रिंग) फंसा कर उन्हें छोड़ देते। पैर में लगे 'रिंग' से पक्षियों की यात्राओं के बारे में ठोस जानकारी मिलती।

उनके अध्ययनों से फ्लावर-पेकर और सनबर्डस द्वारा मिसलटो (बांधा) के परागण और बीज प्रसार के बारे में प्रामाणिक जानकारी मिली। उन्होंनें कच्छ की खाड़ी में फ्लेमिंगो पक्षियों का गहन अध्ययन किया। उन्होंनें हैद्राबाद, ट्रैवेन्कोर, कोचीन, अफगानिस्तान, कैलाश मानसरोवर (चीन), कच्छ, मैसूर, गोवा, सिक्कम, भूटान और अरुणाचल प्रदेश के पक्षियों का प्रान्तीय सर्वेक्षण भी किया। उन्होंनें दिखाया कि जल-पक्षियों की कई प्रजातियां पलायन कर साईबेरिया तक जाती हैं। अपने पूरे अनुसंधान में उन्होंनें सूक्ष्म नोट्स लिए और इस अपार ज्ञान के भंडार को अनेकों सचित्र पुस्तकों में लिपिबद्ध किया। 1941 में उन्होंनें *बुक ऑफ इंडियन बर्ड्स* लिखी। उसके बाद द *बर्ड्स ऑफ कच्छ, इंडियन हिल बर्ड्स, बर्ड्स ऑफ केरला, बर्ड्स ऑफ सिक्कम* लिखीं। फिर उन्होंनें दस खण्डों की सुप्रसिद्ध *फील्ड गॉइड* टू द *बर्ड्स ऑफ इंडिया एन्ड पाकिस्तान* लिखी। पक्षियों पर उनकी अंतिम पुस्तक *फील्ड गॉइड* टू द *बर्ड्स ऑफ ईस्ट्रन हिमालयास* 1977 में छपी। 1985 में सलीम अली ने अपनी दिलकश जीवनी द *फॉल ऑफ ए स्पैरो* लिखी। पक्षी जीवन के गहरे ज्ञान और पर्यावरण के नाजुक संतुलन की समझ के कारण ही वो पर्यावरण संरक्षण की ओर उन्मुख हुए। सलीम अली की सिफारिशों और प्रयासों की वजह से ही केरल में *साइलेन्ट वैली* और *भरतपुर पक्षी अभयारण्य* सुरक्षित रह पाए। विज्ञान और प्राकृतिक संरक्षण की ओर उनका समर्पण अनूठा था। 200 वर्ष पुरानी संस्था *बॉम्बे नैचुरल हिस्ट्री सोसाइटी* (बीएनएचएस) के जीवित रहने के लिए उन्होंनें खुद पंडित नेहरू को पत्र लिखकर आर्थिक अनुदान की अपील की।

जैविक विविधता के लिहाज से भारत की गिनती विश्व के प्रमुख 12 देशों में होती है। उसके वाबजूद हमारे पास अपनी जैविक सम्पदा की की विस्तृत प्रामाणिक जानकारी नहीं है। पुराने दस्तावेजों के अनुसार मुगल बादशाहों ने भारत की प्राकृतिक सम्पदा में गहरी रुचि ली थी। उदाहरण के लिए बादशाह जहांगीर ने अपनी डायरी में सारस पक्षी के प्रजनन व्यवहार का सुन्दर वर्णन लिखा है। उन्होंनें एक कुशल चित्रकार मंसूर को पक्षियों के रंगीन चित्र बनाने का काम भी सौंपा। मुगलकाल के बाद एक लम्बे समय तक जैविक विविधता को दर्ज करने का काम पूर्णत: उपेक्षित रहा। भारतीय दर्शन बाहरी वास्तविकता को *माया* - मिथ्या मानती है। इसलिए उसे दर्ज करने में भी उसकी कोई रुचि नहीं है। इससे धीरे-धीरे जैविक और प्राकृतिक विज्ञान का पतन हुआ।

अंग्रेजों ने भारत में जैविक सम्पदा की ठोस जानकारी को अपने औपनिवेशिक हितों के लिए संकलित करना शुरु किया। सर जोजेफ हुकर, हयू विस्लर और विंटर ने भिन्न क्षेत्रों में भारतीय जैविक सम्पदा को दर्ज कने का विलक्षण काम किया। सलीम अली निश्चित रूप से पहले भारतीय थे जिनका काम सावधानी से किए सूक्ष्म अवलोकनों पर आधारित था। इसीलिए भारतीय विज्ञान के इतिहास में उनका काम एकदम अनूठा है।

सलीम अली की पत्नी का एक छोटी सर्जरी के बाद 1939 में देहान्त हुआ। उसके बाद पचास सालों तक उनकी बहन के परिवार ने सलीम अली की सभी जरूरतों की देखभाल की। सलीम अली अपने पूरे जीवन को समर्पित कर इतना अधिक शायद इसलिए कर पाए क्योंकि उनके परिवार ने उन्हें स्वीकारा और उन्हें सहारा दिया। कोई सामान्य परिवार उन्हें निश्चित ही 'सिरफिरा' या 'पागल' करार देता। जे बी एस हैल्डेन ने सलीम अली के उपयोगी वैज्ञानिक अनुसंधान की पुरजोर प्रशंसा की। सलीम अली इस अद्वितीय शोध को महज एक दूरबीन की सहायता से कर पाए।

एक बार सलीम अली ने आईने के सामने घोड़े की पूंछ के बालों द्वारा एक ग्रे-वैगटेल को पकड़ा। चिड़िया आईने में अपनी परछांई पर वार करती रही (एक सामान्य क्षेत्रीय प्रतिक्रिया) और बालों के जाल में फंस गई। सलीम अली ने पक्षी के पैर में 'रिंग' डाल कर उसे छोड़ दिया। साईबेरिया में प्रजनन करने वाली यह चिड़िया कुछ महीने बम्बई में बिताती है। इस घटना के कई सालों बाद तक वही चिड़िया हर अप्रैल को सलीम अली के बाग में दिखती और फिर सितम्बर में साईबेरिया के लिए पलायन करती। इसमें कोई ताज्जुब नहीं कि इस अनुभव के बाद सलीम अली हमेशा के लिए पक्षियों से जुड़ गए!
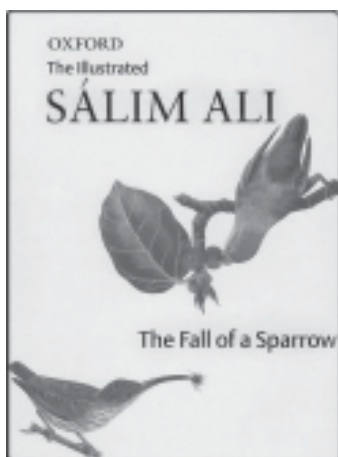
सलीम अली ने अपने जीवनकाल में भारत में ही नहीं परन्तु पूरी दुनिया के पक्षी प्रेमियों के बीच अपार प्रसिद्धी पायी। उन्हें बहुत सारे पुरुस्कार मिले – ब्रिटिश ऑरनाथौलिजी यूनियन का यूनियन मेडल (1967), वर्ल्ड कंजरवेशन यूनियन का फिलिप अवार्ड (1969), पद्मविभूषण (1976) और वर्ल्ड वाइल्डलाइफ फंड का पॉल गैटी वाइल्डलाइफ कंजरवेशन (1976)। उन्हें तीन डाक्ट्रेट की डिग्रियों से सुशोभित किया गया और 1985 में राज्य सभा की सदस्यता के लिए मनोनीत किया गया। 1987 में डॉक्टर सलीम अली का कैन्सर से देहान्त हुआ। 1990 में कोइम्बोटूर में *सलीम अली सेन्टर फॉर ऑरनाथौलिजी एन्ड नैचुरल हिस्ट्री* की स्थापना हुई।

के.एस. कृष्णन

(1898 - 1961)
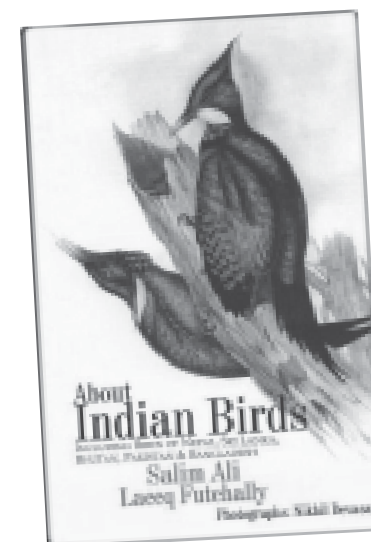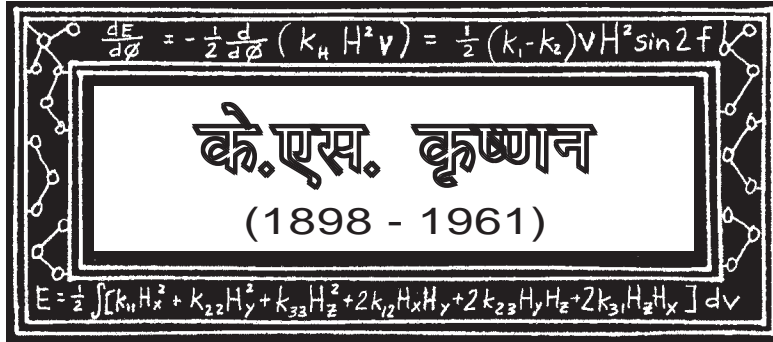
करियामणिक्कम श्रीनिवास कृष्णन (संक्षिप्त में केएसएस) का जन्म 4 दिसम्बर 1898 को तमिलनाडु में तिरुनेवेल्ली जिले के वाटरप गांव में हुआ था। उनके पिता एक बुद्धिजीवी थे और वे तमिल और संस्कृत विषयों में पारंगत थे। कृष्णन की प्रारम्भिक शिक्षा उनके गांव एवं पास के शहर श्रीविलिपुत्तूर में हुई।

स्कूल में उनकी भेंट एक प्रेरक शिक्षक श्री सुब्रामनिया अय्यर से हुई। कृष्णन के खुद अपने शब्दों में, *'मुझे विज्ञान विषय से सबसे पहले प्रेम हाई स्कूल में हुआ। मेरे शिक्षक कोई पेशेवर वैज्ञानिक नहीं थे परन्तु विज्ञान को स्पष्ट और रोचक तरीके से समझाने में उन्हें महारत हासिल थी। उनके द्वारा पढ़ाए पाठों को हम गहरी तरह समझ जाते थे। साथ में विज्ञान के बारे और अधिक जानने की भूख भी जगती थी। चाहें कोई भी विषय हो भौतिकी, भूगोल अथवा रासायनशास्त्र श्री अय्यर के पढ़ाने का अंदाज एकदम विलक्षण था। वो सिर्फ किताब से नहीं पढ़ाते थे। वो सरल प्रयोग दिखाते और छात्रों को भी प्रयोग करने के लिए प्रेरित करते थे।'*
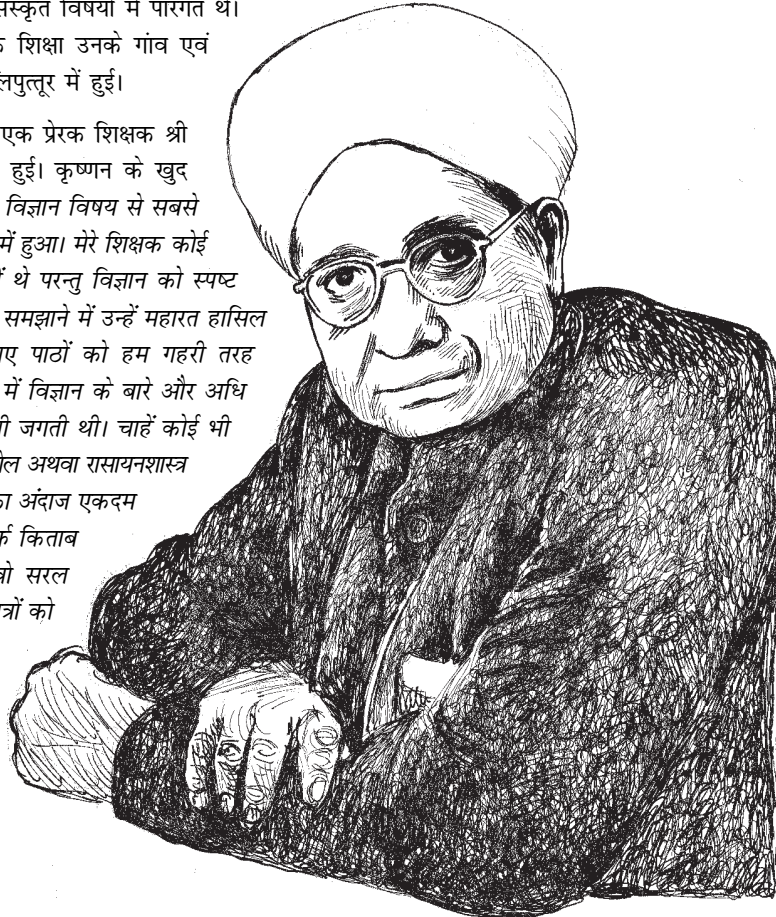
स्कूल में एक बार कृष्णन से आर्कमिडीज के सिद्धांत के ऊपर एक निबंध लिखने के लिए कहा गया। इस गृहकार्य में कृष्णन ने घनत्व मापने का खुद बनाया एक उपकरण भी जोड़ दिया। बाद में उन्हें यह जानकर अचरज हुआ कि वो उपकरण पहले ही इजाद हो चुका था और वो *निकोलस हाईड्रोमीटर* के नाम से जाना जाता था। कृष्णन का शायद यह पहला स्वतंत्र शोध था।

कृष्णन ने 1914-1916 के बीच मदुरई स्थित अमरीकन कॉलेज मे पढ़ाई की। बाद में उन्होंने मद्रास क्रिस्चियन कॉलेज में दाखिला लिया जहां 1918 में, एक विलक्षण छात्र के रूप में उन्होंनें भौतिक विज्ञान का एबरडीन पुरुस्कार जीता।

अगले दो सालों तक कृष्णन ने मद्रास क्रिस्चियन कॉलेज के रासायन शास्त्र विभाग में डेमॉन्सट्रेटर का काम किया। दोपहर भोजन की छुट्टी में वो भौतिकी, रासायनशास्त्र और गणित पर अनौपचारिक चर्चाएं आयोजित करते। यह लोकप्रिय गोष्ठियां में आसपास के कॉलेजों के छात्र भी भाग लेते थे।

1920 में कोडाईकनाल स्थित सोलर फिजिक्स ऑब्जरवेटरी में काम करने के लिए कृष्णन के नाम की सिफारिश की गई। परन्तु किसी कारण से बात बनी नहीं। एक तरह से यह अच्छा ही हुआ और इससे भौतिक विज्ञान को निश्चित ही बहुत अधिक लाभ हुआ।

कृष्णन का दिल वैज्ञानिक शोध में था। 1920 में उन्होंनें यूनिवर्सिटी कॉलेज ऑफ साइंस, कलकत्ता में एमएससी करने के लिए दाखिला लिया। रमन वहां स्वयं पढ़ाते थे। भौतिक शास्त्र का अच्छा ज्ञान हासिल करने के बाद कृष्णन ने रमन के साथ पूरे समय एक शोध कर्ता के रूप में काम करना शुरु किया। वो सुबह छह बजे टहलने जाते और ठंडे पानी से नहाने के तुरंत बाद अपने शोधकार्य में जुट जाते थे। उन्होंनें प्रकाश के परमाणु-स्कैटरिंग एवं तरल पदार्थों में एक्स-रेज पर कार्य किया। उन्होंने गैसीय परमाणुओं और क्रिस्टल्स की मैगनेटिक एनआइसोट्रोपी पर भी अनुसंधान किया। उनका कार्य केवल वैज्ञानिक शोध तक सीमित नहीं था। विज्ञान के साथ उन्हें साहित्य, धर्म और दर्शन की पुस्तकें पढ़ने का भी बहुत शौक था।

अक्टूबर 1928 में जर्मनी के प्रोफेसर आर्नल्ड सौमरफ्लेड ने कलकत्ता यूनिवर्सिटी में क्वांटम भौतिकी पर कुछ लेक्चर दिए। कृष्णन ने उन लेक्चर्स का अध्ययन कर उन्हें एक पुस्तक में संकलित किया। सौमरफ्लेड इस पुस्तक से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंनें उसे संयुक्त नामों से छापने का प्रस्ताव रखा। पर जैसी अपेक्षा थी कृष्णन ने उसे नकार दिया।

कृष्णन, सोमरफ्लेड और रमन

रमन के साथ-साथ कृष्णन का काम भी बहुत महत्वपूर्ण साबित हुआ। रमन के आग्रह पर कृष्णन ने विभिन्न तरल पदार्थों पर प्रकाश के विकीरण (स्कैटरिंग) का प्रभाव जांचा। रमन के शोध में भी कृष्णन का बहुत बड़ा योगदान था। इसी 'रमन प्रभाव' पर रमन को 1930 में नोबेल पुरुस्कार से सम्मानित किया गया। रमन ने स्वयं कृष्णन ने योगदान का विस्तृत उल्लेख किया है। हालांकि कृष्णन का 'रमन प्रभाव' के खोज में बड़ा हाथ था फिर भी बाद में उन्होंनें इस विषय पर आगे शोध नहीं किया। उन्होंनें चुम्बकत्व, ऊष्मा और 'थरमियौनिक्स' की क्षेत्र चुना। 'थरमियौनिक्स' इलेक्ट्रानिक्स की वो शाखा है जिसमें पदार्थों को गर्म करने पर उनमें से निकलने वाले इलेक्ट्रांस का अध्ययन किया जाता है।

दिसम्बर 1928 में कृष्णन ने ढाका यूनिवर्सिटी में रीडर के पद पर काम प्रारम्भ किया। उस समय प्रसिद्ध भौतिकशास्त्री प्रोफेसर सत्येंद्र नाथ बोस वहां पर फिजिक्स विभाग के प्रमुख थे। वहां का प्रेरणास्पद माहौल कृष्णन को बेहद पसंद आया और उन्होंने वहां पूरे जोश के साथ काम शुरु किया। उनका काम सस्ते, कम-लागत के वैज्ञानिक प्रयोगों का सजृन करना था। उनके काम को एक विदेशी मित्र ने मजाक में 'कड़ाब से जुगाड़' करना बताया। उन्होंने विभिन्न क्रिस्टल्स के चुम्बकीय गुणधर्मो का गहन अध्ययन किया। इस शोधकार्य के लिए मद्रास यूनिवर्सिटी ने उन्हें डीएससी की उपाधि प्रदान की।

The crystal structure of graphite, composed of carbon atoms linked by covalent bonds (indicated by solid lines), and weaker van der Walls bonds (dotted lines).

1933 में कृष्णन ढाका से वापस कलकत्ता लौटे जो उस समय देश में विज्ञान का प्रमुख केंद्र था। वहां उन्होंन्रे इंडियन असोसिएशन फॉर द कल्टीवेशन ऑफ साइंस में प्रोफेसर ऑफ फिजिक्स (महेंद्रलाल सरकार चेयर) का पद सम्भाला। प्रकाश के विकीरण और चुम्बकत्व के माप पर कृष्णन के काम इतना महत्वपूर्ण समझा गया कि 1940 में उन्हें रॉयल सोसाइटी की फेलोशिप प्रदान की गई। उस समय उनकी उम्र मात्र 42 वर्ष की थी।

दिसम्बर 1941 में जापान में युद्ध छिड़ने के कारण कलकत्ते में जीवन बहुत अस्त-व्यस्त हो गया। शिक्षा और शोध संस्थाओं के बन्द करने की नौबत आ गई। इसलिए जब कृष्णन को इलाहाबाद यूनिवर्सिटी सें प्रोफेसरशिप का न्यौता मिला तो उन्होंनें उसे सहर्ष स्वीकार किया। इलाहाबाद में बहुत समय प्रशासनिक कार्यो में खर्च होने से उसका उनके प्रायोगिक शोधकार्य पर असर पड़ा। परन्तु भौतिकी के सिद्धांतिक पक्षों में भी पारंगत होने के कारण

कृष्णन ने धातुओं और मिश्रधातुओं के प्रतिरोध (रिजिस्टिविटी) का एक फार्मूला विकसित किया। 1946 में कृष्णन को 'नाईटहुड' से सम्मानित किया गया। देश की आजादी से कुछ समय पहले कृष्णन को नैशनल फिजिकल लैबोरेट्री के निदेशक का पद सम्भालने के लिए नई दिल्ली आमंत्रित किया गया।

चालीस और पचास के दशक में कृष्णन ने काफी समय काउंसिल फॉर साइन्टिफिक एंड इंडस्ट्रियल रिसर्च, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, एँटामिक इनर्जी कमिशन और अन्य महत्वपूर्ण सरकारी संस्थाओं के साथ बिताया। 1954 में उन्हें पद्मभूषण और 1957 में शांति स्वरूप भटनागर पुरुस्कार से अलंकृत किया गया।

व्यक्तिगत जीवन में कृष्णन को कई विषयों में पारंगत थे। न्याय और नैतिकता के मानवीय मूल्यों में उनका गहरा विश्वास था। उन्हें संस्कृत, तमिल साहित्य और कर्नाटक संगीत में गहरी रुचि थी। पंडित नेहरू के अनुसार हरेक भेंट में उन्हें कृष्णन से कोई नई कहानी अवश्य सुनने को मिलती! कृष्णन टेनिस खेलते और उन्हें क्रिकेट मैच देखने का जबरदस्त शौक था। विज्ञान की गहरी जानकारी होने के कारण वो विज्ञान की विनाशकारी शक्ति से अच्छी तरह अवगत थे। शायद इसी कारण उन्होंनें शांति आंदोलनों में सक्रिय भाग लिया।

नैशनल फिजिकल लैबोरेट्री के निर्माण के समय एक ठेकेदार ने मुख्यद्वार के पास दो समस्यामूलक पेड़ों को काटने का निर्णय लिया। कृष्णन ने जब यह देखा तो वो बहुत दुखी हुए और उन्होंने आरकिटेक्ट से पूछा, *'तुम यह पेड़ क्यों काट रहे हो?'* जवाब में आर्किटेक्ट ने कहा, *'सर इन पेड़ों के कारण लैंडस्केप का संतुलन बिगड़ रहा था।'* कृष्णन ने कहा, *'तुम अभी भी संतुलन बरकरार रख सकते हो। इन पेड़ों को काट कर नहीं, बल्कि वहां एक और पेड़ लगाकर।'* यह घटना कृष्णन की गहरी संवेदनाओं और सौंदर्य दृष्टि का द्योतक है। जब कृष्णन का देहान्त जून 13, 1961 को हुआ तो वो अपने पीछे पत्नी, दो बेटे, चार बेटियां और समस्त भारत को शोकाकुल छोड़ गए।

डॉक्टर वी.एन. शिरोडकर का नाम पूरे विश्व में शिरोडकर स्टिच (टांके) के आविष्कारक के नाम से मशहूर है। एक मेडिकल सर्जन की हैसियत से स्त्री सम्बंधी बीमारियों के उपचार में उनका योगदान बहुत महत्वपूर्ण है।

विट्ठल नागेश शिरोडकर का जन्म 1899 में गोवा के शिरोदा नाम के गांव में हुआ। उनका पारिवारिक नाम शिरोडकर उनके गांव के नाम पर ही पड़ा। प्रारम्भिक शिक्षा हुबली में होने के बाद उन्होंनें डॉक्टरी की पढ़ाई ग्रांट मेडिकल कॉलेज, बम्बई में पूरी की। 1923 में उन्हें एमबीबीएस की डिग्री प्राप्त हुई। उन्होंनें स्त्री रोग विज्ञान (गाइनीकोलोजी) में 1927 में एमडी की डिग्री हासिल की। उसके बाद उच्च शिक्षा के लिए वो इंग्लैंड गये। पश्चिम देशों में चिकित्सा पद्धतियों के परिचय से उन्हें बहुत लाभ हुआ। यहां उन्होंने नवीनतम सर्जरी की प्रणालियां सीखीं और अनेकों प्रसिद्ध डॉक्टरों से भी मिले। 1931 में एफआरसीएस (इंग्लैंड) की उपाधि मिलने के बाद वो भारत लौटे और बम्बई के जे.जे. अस्पताल में स्त्रीरोग विज्ञान के प्रोफेसर की हैसियत से काम करने लगे।

जे.जे. अस्पताल दुनिया की एक अनूठी संस्था है। इस विशाल अस्पताल में 4000 मरीजों के पलंग हैं। यहां 1500 स्नातक और 650 पोस्ट-ग्रैजुएट छात्र पढ़ते हैं। एशिया में पश्चिमी चिकित्सा की यह सबसे पुरानी संस्था है और उसका 175 साल पुराना गौरवशाली इतिहास है। नोबेल पुरुस्कार से सम्मानित प्रसिद्ध वैज्ञानिक रॉबर्ट काच ने उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में तपेदिक (टीबी) पर अपना बुनियादी शोध इसी संस्था में किया था।

1940 में ग्रांट मेडिकल अस्पताल के स्त्रीरोग विभाग में शिरोडकर ने प्रोफेसर के पद पर कार्य आरम्भ किया। 1941 में वे नौरोसजी वाडिया मैटरनटी अस्पताल के साथ जुड़े। इसके साथ-साथ उनकी जोरदार निजी प्रैक्टिस भी जारी रही जिसमें वो समाज के सभी तबकों के मरीजों का इलाज करते थे। वो कम्बाला हिल स्थित अपनी क्लीनिक में रोजाना 14 से 16 घंटे काम करते थे। उनके हर आपरेशन के समय कई उत्सुक और प्रेरित दर्शक होते थे। जल्द ही उन्हें अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई और उन्हें देश-विदेश में जगह-जगह लेक्चर देने के लिए बुलाया जाने लगा। वो उन पहले लोगों में से थे जिन्होंने अपने किए आपरेशनों की फिल्में बनायीं। एक अनुमान के अनुसार शिरोडकर को दुनिया में सबसे अधिक 'ट्यूबोक्टमी' के आपरेशन करने का रिकार्ड हासिल है!

1950 के दशक में दूसरे तिमाही में गर्भवती स्त्री द्वारा स्वैच्छिक गर्भपात की बात एक गूढ़ रहस्य थी। उसके लिए तमाम इलाज सुझाए गए परन्तु कोई कारगर साबित नहीं हुआ। कभी-कभार होने वाली इस दर्दनाक समस्या के लिए कुछ नया उपचार एकदम जरूरी था। प्रोफेसर शिरोडर वो पहले व्यक्ति थे जिन्होंनें इस समस्या का विश्लेक्षणात्मक अध्ययन किया। उन्होंनें स्त्रियो की जनेंद्रियों का गर्भ से पहले और उसके बाद अध्ययन किया और उनमें आये बदलाव को समझा। बार-बार स्वैच्छिक गर्भपात की समस्या के हल के लिए शिरोडर ने एक आपरेशन सुझाया जिसने उन्हें दुनिया के महान सर्जनों की कोटि में खड़ा कर दिया।

सामान्य गर्भशिय में कंठ बन्द होता है।

इनक्मपीटेन्ट गर्भशिय में कंठ खुला होता है।

1955 में डॉक्टर शिरोडर ने 'सर्विकल सर्कलेज' सर्जरी का उल्लेख किया। यह वो आपरेशन है जिसकी काल के लम्बे अंतराल ने पुष्टि की है। शिरोडर ने इस आपरेशन के लिए कई विशेष प्रकार के उपकरणों का आविष्कार भी किया। समय के साथ-साथ इस सर्जरी में तमाम सुधार हुए हैं परन्तु उनका सुझाया आपरेशन आज भी एक मास्टरपीस है। उन्होंनें 1951 में पैरिस में सर्वप्रथम इस आपरेशन का एक अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार में जिक्र किया। फिर 1956 में नेपिल्स, इटली की एक कांफ्रेन्स में उन्होंने इसके बारे में विस्तार से बताया। इटली का सम्बंध इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि तभी एक प्रसिद्ध हौलीवुड की अभिनेत्री का ऑपरेशन इसी तकनीक द्वारा हुआ था। शिरोडर तरीका हर प्रकार के गर्भपात का रामबाण इलाज नहीं था इससे वो खुद अच्छी तरह वाकिफ थे। किन परिस्थितियों में ऑपरेशन सफल होगा और किन में नहीं इसकी स्पष्ट व्याख्या शिरोडर ने खुद करी थी।
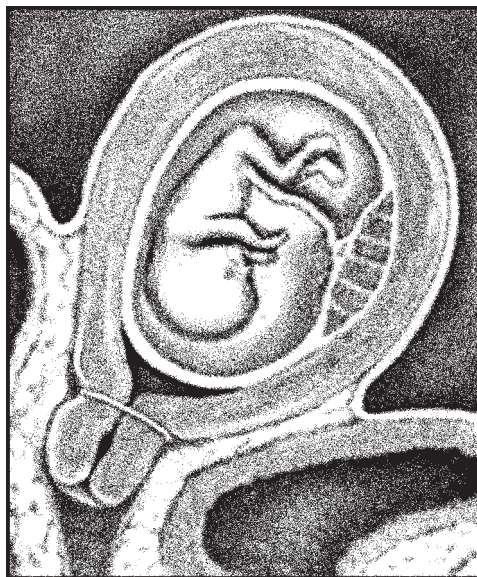
शिरोडकर स्टिच द्वारा पूरे गर्भ काल में कंठ को बन्द रखता है।

इस नये ऑपरेशन का विचार शायद शिरोडर को इसलिए सूझा क्योंकि वो रोजमर्रा की घटनाओं पर प्रश्न उठाते थे। शिरोडर ने इसके बारे में स्वयं लिखा है, *'पुराने दिग्गजों को प्रणाम करते हुए मुझे उनके ऑपरेशन के कई तरीके एकदम सही और आदर्श नहीं जंचे। मेरे दिमाग में इन काल सम्मानित तरीकों को बेहतर बनाने का विचार कौंधा।'*

1951 में फ्रेंच सोसाइटी ऑफ गायनोकालोजिस्ट्स के रजत जयंती समारोह के उपलक्ष में प्रोफेसर शिरोडर ने अपने आपरेशन की एक फिल्म दिखाई। इसमें उन्होंनें 'कैटगट' का उपयोग किया था। परन्तु घुलनशील होने के कारण उन्हें इसका इस्तेमाल त्यागना पड़ा। उन्होंने अपनी ही तकनीक में बदलाव कर जांघ से 'फैसिया लाटा' और 'लिनिन' के टांकों का उपयोग कर स्वैच्छिक और आदतन गर्भपातों का इलाज किया। यह आपरेशन आज दुनिया भर में शिरोडर आपरेशन के नाम से प्रसिद्ध है। आने वाली तमाम पीढ़ियां शिरोडर को इस नवाचार के लिए याद करेंगी।
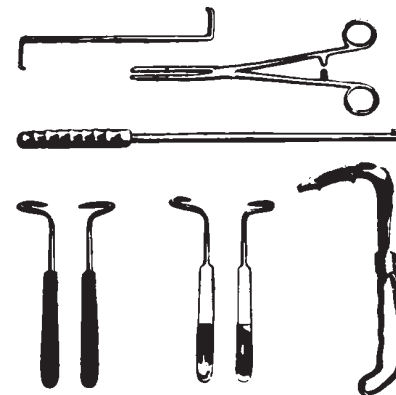
कुछ सर्जरी के औजार जिनका आविष्कार डॉक्टर शिरोडकर ने किया।

शिरोडकर ने मेडिकल शोधग्रंथों में बहुत से शोधपत्र भी लिखे। 1960 में अपने अनुभवों पर आधारित उन्होंनें *'कांट्रिब्यूशन्स टू आब्सटेटट्रिक्स एंड गायनीकौलोजी'* पर एक शोधपत्र लिखा। 1963 और 1970 में माइग्स और स्टरगिस द्वारा सम्पादित *'प्रोगरेस इन गायनीकौलोजी'* के खंड 4 और 5 के लिए उन्होंनें *'इनकम्पीटेंट सर्वेक्स'* पर एक-एक अध्याय लिखा। जनेन्द्रियों के भ्रंश (जेनायटल प्रोलैप्स) पर उन्होंनें अपने विचार 1971 में मारकस और मारकस द्वारा सम्पादित खंड *'एडवांसिस इन आब्सटेटट्रिक्स एंड गायनीकौलोजी'* में लिखे। उन्होंने गर्भ निरोध के लिए सरवेक्स पर एक हुड लगाने का सुझाव भी दिया।

7 मार्च 1971 को बम्बई में प्रोफेसर शिरोडकर का देहान्त हुआ। उनकी मां का देहान्त सरविकल कैंसर से हुआ था। शायद इसी वजह से उनके बेटे मनोहर शिरोडर ने कैंसर पर शोध करने की ठानी। शुरु में उन्होंनें जॉन हॉपकिन्स स्कूल ऑफ पब्लिक हेल्थ में *'राउज सरकोमा'* पर शोधकार्य किया। शोध के दौरान कैंसर फैलाने वाला यह पहला वायरस पाया गया। उसके बाद मनोहर ने पुणे स्थित राकेफेलर फाउंडेशन के वाइरस रिसर्च सेंटर में कार्य किया।

छात्रावस्था में मनोहर ने डाक्टरी के पेशे से अपना मुंह मोड़ा। परन्तु वो अपने पिता के काम का दिल से बहुत आदर करते थे। 1976 में मनोहर और उनकी पत्नी ने डॉक्टर वी.एन. शिरोडकर मेमोरियल रिसर्च फाउंडेशन की स्थापना की जिसमें उन्होंने खुदके और अपने पिता के सपनों का संजोया। यह संस्था गरीब महिलाओं में कैंसर रोग की जांच-परख करती है और उनके इलाज के लिए नए और सस्ते तरीके खोजती है।

एक अत्यन्त व्यस्त मेडिकल सर्जन होने के बावजूद प्रोफेसर शिरोडकर ने बहुत से शोधपत्र लिखे और डॉक्टरी उपचार के सामाजिक पक्षों में गहरी रुचि ली। वो गर्भपात के विषय पर भारत सरकार द्वारा गठित शांतिलाल कमेटी के सदस्य थे और फैमिली प्लैनिंग एसोसिएशन के सदस्य थे। 1971 में भारत सरकार ने प्रोफेसर शिरोडकर को पद्मविभूषण से सम्मानित किया।
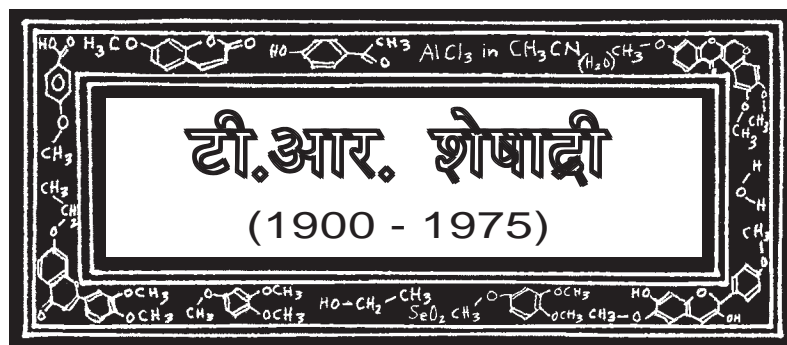
'धन और साधन अच्छे शोधकार्य के लिए जरूरी हैं पर पर्याप्त नहीं, उत्तम शोध के लिए इंसान सबसे महत्वपूर्ण होता है।'

– टी.आर. शेषाद्री

टी.आर. शेषाद्री का जन्म 3 फरवरी 1900 को कुलीतलाई में हुआ जो तिरुचापल्ली जिले में कावेरी नदी के पास स्थित एक छोटा शहर है। उनके पिता टी. आयनगर स्थानीय स्कूल में शिक्षक थे। शेषाद्री की प्रारम्भिक शिक्षा, मंदिरों के शहर श्रीरंगम और तिरुचापल्ली में हुई। उनके शिक्षकों ने उनमें कर्तव्यपालन, लोगों से प्रेम और ज्ञान की पिपासा भरी। 1917 में शेषाद्री ने मद्रास के प्रेसीडेंसी कॉलेज में बीएससी (केमिस्ट्री) के लिए दाखिला लिया। कॉलेज के दौरान वो रामकृष्ण मिशन द्वारा संचालित छात्रावास में रहते थे। आश्रम के सन्यासियों से उन्होंने जो आध्यात्मिक मूल्य सीखे वो जीवन भर उनके काम आए। प्रेसीडेंसी कॉलेज में उन्हें बी.बी. डे और पी. नारायण अय्यर जैसे प्रेरित शिक्षकों ने पढ़ाया। इन शिक्षकों को वो जीवन भर नहीं भूले। बीएससी की पढ़ाई समाप्त करने के बाद शेषाद्री ने एक साल रामकृष्ण मिशन में काम किया। बाद में उन्होंने
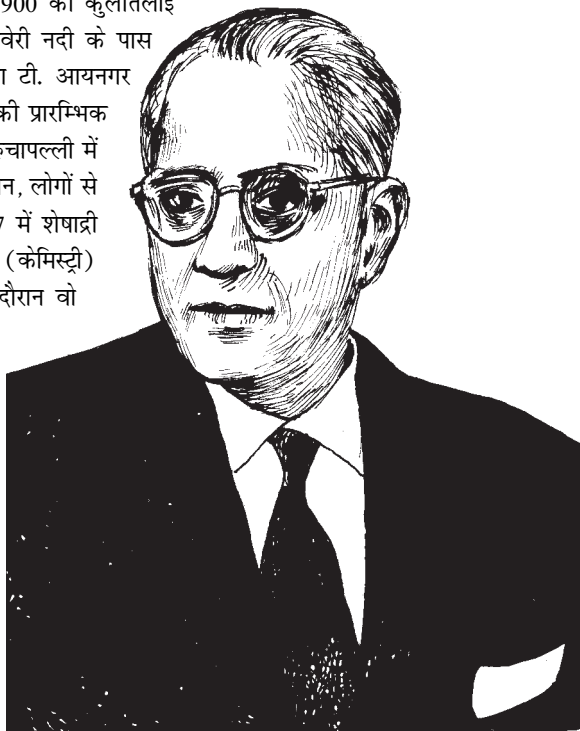
प्रेसीडेंसी कॉलेज के केमिस्ट्री विभाग में शोधकार्य शुरु किया। रासायनिक संश्लेषण (केमिकल सिथिंसिस) में उनके उत्कृष्ट कार्य के लिए उन्हें मद्रास यूनिवर्सिटी ने सर विलियम वेडबर्न और कर्जन पुरुस्कारों से सम्मानित किया।

1927 में भारत सरकार ने इंग्लैंड में उच्च शिक्षा पाने के लिए शेषाद्री को एक वजीफा दिया। इंग्लैंड की मैंनचेस्टर यूनिवर्सिटी में शेषाद्री ने विख्यात केमिस्ट प्रोफेसर रॉबर्ट रॉबिनसन (एफआरएस) के देखरेख में शोध कार्य किया। प्रोफेसर रॉबिनसन बाद में रॉयल सोसाइटी के अध्यक्ष मनोनीत हुए और उन्हें नोबेल पुरुस्कार से भी सम्मानित किया गया। शेषाद्री ने मेलिरिया के रोकथाम की औषधियों और रसायनों के संश्लेषण पर पथप्रदर्शक कार्य किया। इस शोधकार्य के लिए 1929 में उन्हें पीएचडी की उपाधि प्रदान की गई। प्रोफेसर रॉबिनसन के साथ बिताए समय को शेषाद्री ने अपने शोधकार्य का सबसे आनंददायी काल माना।

डॉक्ट्रेट की उपाधि पाने के बाद शेषाद्री ने कुछ महीन आस्ट्रिया में नोबेल पुरुस्कार विजेता प्रोफेसर फ्रिट्ज प्रेगल के साथ बिताए। प्रोफेसर प्रेगल केमिस्ट्री में सूक्ष्म विश्लेषण के अपने काम के लिए विश्व-विख्यात थे। उसके बाद शेषाद्री ने यूनिवर्सिटी ऑफ एडिनब्रा के केमिस्ट्री विभाग मे प्रोफेसर जार्ज बार्जर (एफआरएस) के साथ कुछ समय बिताया। 1930 में शेषाद्री भारत वापस लौटे।

1934 में उन्होंने आंध्र यूनिवर्सिटी में केमिस्ट्री के विभाग अध्यक्ष के पद पर काम आरम्भ किया। यहां उन्होंने बहुत मेहनत से नई प्रयोगशालाएं खोलीं, नया पाठ्यक्रम रचा और केमिस्ट्री के एक अत्यंत जीवन्त शोध स्कूल की स्थापना की। इस बीच यूनिवर्सिटी ने उन पर केमिकल टेक्नालिजी और औषधीय केमिस्ट्री के नए विभाग स्थापित करने का दायित्व भी सौंपा। इसके बावजूद उन्होंनें अपना शोधकार्य लगातार जारी रखा। इस दौरान उन्हें अक्सर आंध्र मेडिकल कॉलेज स्थित बायोकेमिस्ट्री विभाग की ओर अपनी साइकिल पर पांच किलोमीटर का सफर तय करते हुए देखा जा सकता था। काम के प्रति शेषाद्री के समर्पण से प्रेरित होकर उनके बहुत से युवा छात्रों ने भी शोधकार्य प्रारम्भ किया और अनुसंधान को अपने जीवन का उद्देश्य बनाया। जल्द ही आंध्र यूनिवर्सिटी देश में रासायन शास्त्र पर मौलिक शोध का एक अग्रणी केंद्र बनी।
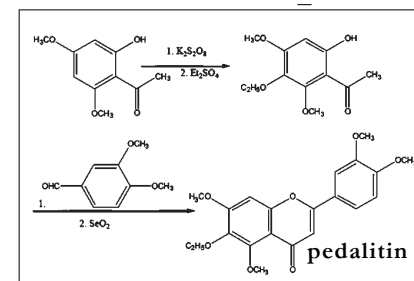
शेषाद्री द्वारा संश्लेक्षित पेडालेटिन।

दूसरे महायुद्ध ने शेषाद्री के काम में बाधा डाली। युद्ध के कारण यूरोप से आने वाले केमिकल्स और उपकरणों का मिलना दुश्वार हो गया। उसी समय फौज की एक टुकड़ी ने वॉल्टेयर स्थित केमिस्ट्री विभाग

की इमारत में डेरा डाला। इसके कारण पहले तो शेषाद्री को गुंटूर और उसके बाद मद्रास जाना पड़ा। पर इस दौड़-धूप में भी उन्होंने अपना शोधकार्य जारी रखा। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात वॉल्टेयर की प्रयोगशाला का पुन:निमार्ण हुआ और शेषाद्री वहां वापस लौटे।

1949 में शेषाद्री को दिल्ली यूनिवर्सिटी के उपकुलपति सर मौरिस ग्वायर ने केमिस्ट्री विभाग का सम्पूर्ण कार्यभार सम्भालने का निमंत्रण दिया। शेषाद्री ने इस चुनौती को स्वीकारा और बहुत अल्पकाल में 'प्राकृतिक उत्पादों' पर विश्व स्तरीय केमिस्ट्री विभाग स्थापित किया। देश के कोने-कोने से और बाद में दुनिया भर से छात्र उनके मार्गदर्शन में शोधकार्य करने के लिए आने लगे। उनकी विशाल टीम में इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनी के शोधछात्र भी शामिल थे। शेषाद्री ने 160 से अधिक पी.एच.डी. छात्रों का मार्गदर्शन किया और कुल मिलाकर 1000 से अधिक शोधपत्र लिखे। उनके छात्र आज दुनिया भर में फैले हैं और देश-विदेश की शोध संस्थाओं में सम्मानित पदों पर आसीन हैं। शेषाद्री ने एक पुस्तक *केमिस्ट्री ऑफ विटामिन्स एंड हारमोन्स* भी लिखी। सेवानिवृत्ति के तुरन्त बाद उन्हें दिल्ली यूनिवर्सिटी के सर्वप्रथम प्रोफेसर इमेरेटस के पद पर नियुक्त किया गया।

वनस्पतियों और प्राणियों के रंगों में शेषाद्री की विशेष रुचि थी। शुरु में उन्होंनें कपास और गुड़हल (हिबिस्कस) के फूलों के रंगों पर शोधकार्य किया। उन्होंनें कई नये यौगिकों के ढांचों की व्याख्या की और साथ-साथ विश्लेषण के कई नये तरीके इजाद किए जो आज केमिस्ट्री में आम बन गए हैं। उनकी जैव-संश्लेषण (बायोसिंथसिज) में गहरी रुचि थी और इस क्षेत्र में उन्होंनें पथप्रदर्शक कार्य किया। हिमालय पर पाए जाने वाले जैवाक (लाइकिन) पर रासायनिक शोध शुरु करने वाले शेषाद्री पहले भारतीय थे।

शेषाद्री के अपार अनुभव और गम्भीर अध्ययन का बहुत से संगठनों को लाभ मिला – इसमें सीएसआईआर, आईसीएमआर, आईसीएआर और डीएडी शामिल हैं। शेषाद्री ने शिक्षा, स्वास्थ्य, विज्ञान, कृषि और सुरक्षा से सम्बंधित विशेषज्ञ समितियों की अध्यक्षता की। वो संसद और यूनेस्को के वैज्ञानिक सलाहकार भी रहे। उन्हें बहुत से सम्मानों से सुशोभित किया गया। 1961 में शेषाद्री को फेलो ऑफ द रॉयल सोसाइटी के सम्मान के लिए चुना गया। कई विश्वविद्यालयों ने उन्हें डाक्ट्रेट की डिग्री से नवाजा। वो इंडियन साइन्स कांग्रेस और इंडियन नैशनल साइन्स एकेडमी के अध्यक्ष भी रहे। वो अंतर्राष्ट्रीय शोध पत्रिकों – *टेट्राहेड्रन* और *फाइटोकेमिस्ट्री* के सम्पादन मंडल के सदस्य भी रहे। 1963 में भारत सरकार ने शेषाद्री को पद्मभूषण पुरुस्कार से सम्मानित किया।

OH O CH₃ O CH₃
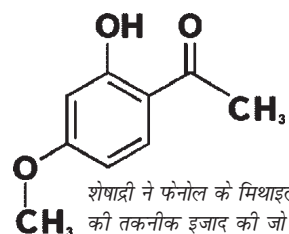
शेषाद्री ने फेनोल के मिथाइलेशन की तकनीक इजाद की जो आज बहुत उपयोग की जाती है।

शेषाद्री ने खेसरी दाल की विषाक्ता का अध्ययन किया।

ODAP

HO N H O O OH NH_2

L-glutamate

HO O O OH NH_2
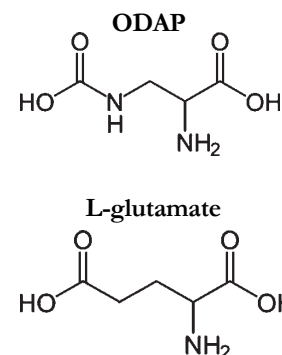
प्रोफेसर शेषाद्री के इस उच्च स्तर पर पहुंचने के पीछे उनकी गहरी कर्तव्य निष्ठा थी। वैसे अपने छात्रों का प्रेम उन्हें सबसे प्रिय था। उन्होंनें अपने छात्रों की जी-जान से मदद की जिनमें कई बार आर्थिक सहायता भी शामिल थी। अपने छात्रों के बीच बने रहने के कारण ही उन्होंनें विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की अध्यक्षता को नकारा। छात्रों ने अपने प्रेरक शिक्षा के प्रति सम्मान व्यक्त करने के लिए शेषाद्री के साठवें, पैसठवें, सत्तरवें और पिछत्तरवें जन्मदिन पर स्मरोणत्सव ग्रंथ प्रकाशित किए। छात्रों ने शेषाद्री की यादगार में एक ट्रस्ट भी स्थापित की। सेवानिवृत्ति के बाद भी शेषाद्री अपने छात्रों के मार्गदर्शन और सहायता के लिए सदैव मौजूद रहते। दिल्ली यूनिवर्सिटी में शेषाद्री के लगभग 25 छात्र, छह अलग-अलग इमारतों में स्थित प्रयोगशालाओं में शोधकार्य करते थे। वो नियमित रूप से दिन में कम-से-कम चार बार अपने सभी छात्रों से मिलने अवश्य जाते थे। शेषाद्री ने सोचा कि सेवानिवृत्ति के बाद केमिस्ट्री विभाग जिसकी उन्होंने सालों सेवा की थी उनके जीवनयापन के लिए कुछ साध न उपलब्ध कराएगा। 1965 में उन्होंने अपना सम्पूर्ण निजी पुस्तकालय दिल्ली यूनिवर्सिटी के केमिस्ट्री विभाग को दान कर दिया। वो शांति से अपनी आखरी सांस तक इसी विभाग में काम करना चाहते थे। दुर्भाग्य से 1972 में दिल्ली यूनिवर्सिटी ने कुछ नए कानून लागू किए जिसकी वजह से वो विभाग से कोई भी पारिश्रमिक नहीं ले सकते थे। इससे उनकी आर्थिक व्यवस्था एकदम चरमरा गई... उनके पास जीवनयापन का कोई साधन नहीं बचा... इस प्रकार भारत के इस महान सपूत का देहान्त 27 सितम्बर 1975 को हुआ।

पंचानन माहेश्वरी

(1904 - 1966)

प्रोफसर पंचानन माहेश्वरी एक प्रख्यात वैज्ञानिक थे जिन्होंनें भारत को विश्व में वनस्पतिशास्त्रीय नक्शे पर एक प्रमुख स्थान दिलाया। उनका जन्म 9 नवम्बर 1904 को जयपुर में हुआ। संस्कृत में *पंचानन* का अर्थ होता है *'पंचमुखी'* यानि पांच लोगों जितना बुद्धिमान। और इस विशेष नाम की महिमा जल्द ही उजागर हुई। पंचानन के पिता एक क्लर्क थे परन्तु उन्होंने अपने बेटे की अच्छी पढ़ाई के लिए कोई भी कसर बाकी नहीं छोड़ी। पंचानन ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा जयपुर में की। तेरह वर्ष की अल्पआयु में उन्होंने हाई स्कूल पास किया। आंखों की कमजोरी के कारण वो डॉक्टरी की पढ़ाई नहीं कर पाए। परन्तु उन्होंने विज्ञान की पढ़ाई की और उसमें बड़ी कामयाबी हासिल की।

1923 में पंचानन ने बीएससी इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से सम्बद्ध इविंग क्रिस्टियन कॉलेज से की। यहां पंचानन की भेंट एक विलक्षण अमरीकी मिशनरी शिक्षक विनफील्ड स्काट डुडग्योन से हुई। वो एक प्रख्यात अमरीकी वनस्पतिशास्त्री थे और इंडियन बॉटेनिकल सोसाइटी के संस्थापक अध्यक्ष थे। छात्र उनका बहुत आदर करते थे परन्तु वो अपने टीचर से डरते भी थे क्योंकि डुडग्योन अपने छात्रों से जमकर काम करवाते थे। परन्तु माहेश्वरी में डुडग्योन को एक ऐसा उत्तम छात्र मिला जिसकी वो मुद्दत से तलाश कर रहे थे। डुडग्योन युवा माहेश्वरी को फील्ड ट्रिप्स पर वनस्पतियों के नमूने एकत्रित करने के लिए साथ ले जाते थे। उन्होंनें ही माहेश्वरी को वनस्पति आकृति-विज्ञान (मॉरफालोजी) के बुनियादी गुर सिखाए। एक बार डुडग्योन ने कहा, *'एक हिन्दु पिता अपने अपने बेटे को अच्छी शिक्षा देने के पश्चात ही अपने जीवन को सफल मानता है। मेरा खुद का बेटा जल्द ही चल बसा परन्तु मैं एक ऐसा छात्र छोड़कर जाना चाहता हूं जो मेरे सपनों को साकार करेगा।'*
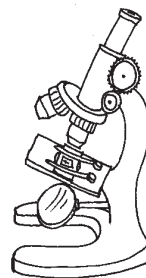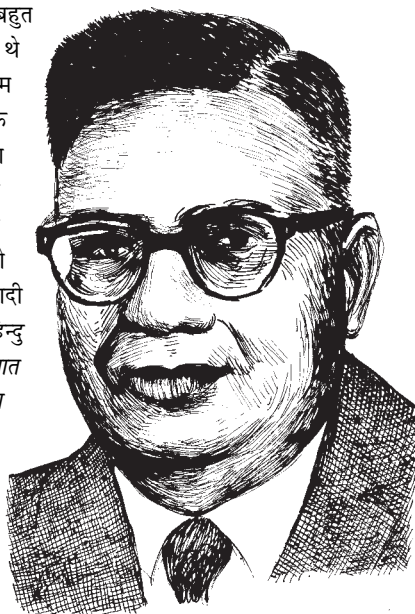
माहेश्वरी पढ़ाई में बहुत होशियार थे। उन्होंने एमएससी (1927) और डीएससी (1931) की पढ़ाई डुडग्योन के मार्गदर्शन में पूरी की। उन्होंनें फूल उत्पादन करने वाले एंजियोस्पर्मस पौधों (पुष्पपादकों) के आकृति-विज्ञान, संरचना और प्रजनन का अध्ययन किया। पढ़ाई समाप्त करने के बाद माहेश्वरी अपने शिक्षक डुडग्योन को गुरुदक्षिणा देने गए। गुरु ने कहा, *'अपने छात्रों के साथ वही करो, जो मैंने तुम्हारे साथ किया है।'* यह संदेश माहेश्वरी कभी नहीं भूले। उसके बाद वो जहां भी गए - आगरा, ढाका या फिर दिल्ली में उन्होंनें अपने गुरु को दिया वचन निभाया।

1931 में आगरा कॉलेज में नौकरी लगने के बाद उन्होंनें तुरन्त पौधों के प्रजनन पर शोध कार्य आरम्भ कर दिया। साधनों के अभाव में भी उन्होंनें पैसे एकत्रित कर एक सूक्ष्मदर्शी और एक माइक्रोटोम खरीदा। घर में उनकी पत्नी शांति - जो कभी स्कूल नहीं गयीं थीं उच्च कोटि के स्लाइड्स बनाने में उनकी मदद करती थीं।

हमें मालूम है कि जब किसी कीड़े या हवा के झोंके से पौधे के डिम्ब (ओव्यूल) में पराग के कण आते हैं तभी प्रजनन शुरु होता है। यह फूल के बीजकोष में होता है और उससे भ्रूण पैदा होता है। भ्रूण अपने परिवेश से भोजन प्राप्त करता है और धीरे-धीरे करके एक पौधे के रूप में पनपता है। भ्रूण से पौधा बनने की प्रक्रिया हरेक प्रजाति के लिए अलग-अलग
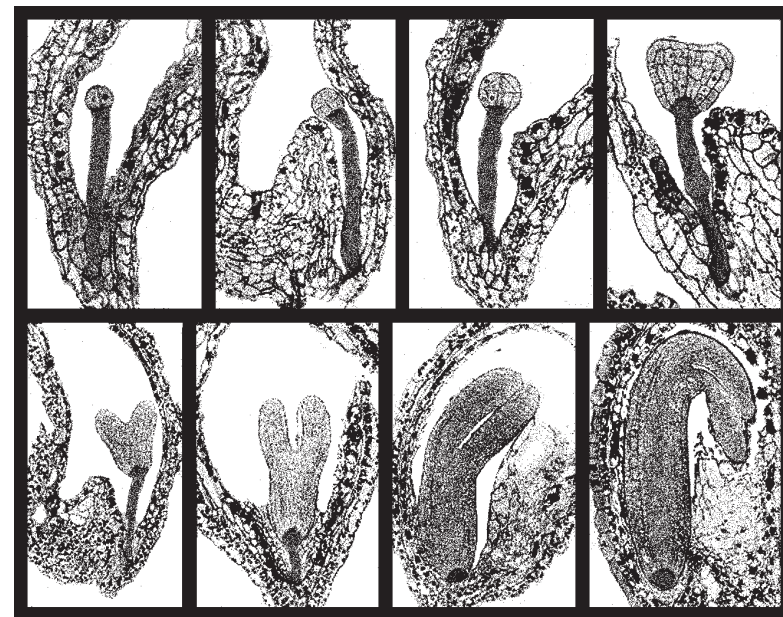
सरसों परिवार के भ्रूण का विकासक्रम

होती है। माहेश्वरी ने तमाम पौधों की प्रजातियों में इस विकास की प्रक्रिया का अध्ययन किया। उन्होंनें इस शोध के आधार पर पौधों को अलग-अलग समूहों में बांटा।

1936-37 में माहेश्वरी यूरोप और इंग्लैंड के दौरे पर गए जहां वो कई मूल्यवान सम्पर्क सूत्र स्थापित करने में सफल रहे। विदेश से लौटने के पश्चात उन्होंनें कुछ समय विख्यात जीवाश्म वैज्ञानिक प्रोफेसर बीरबल साहनी के साथ काम किया। 1939 में उन्होंने ढाका यूनिवर्सिटी में वनस्पतिशास्त्र का नया विभाग प्रारम्भ किया। ढाका में उनकी भेंट सत्येंद्र नाथ बोस और मेघनाद जैसे चोटी के वैज्ञानिकों के साथ हुई। माहेश्वरी ने ढाका यूनिवर्सिटी में दस वर्ष काम किया और वहां पर वनस्पतिशास्त्र एक अच्छा स्कूल स्थापित किया। 1947 के बंटवारे के पश्चात पूर्वी पाकिस्तान के अधिकारियों ने उनसे अपना काम जारी रखने की विनती की। परन्तु तभी माहेश्वरी को एक ऐसा निमन्त्रण मिला जिसे वे ठुकरा नहीं पाए।

1949 में दिल्ली यूनिवर्सिटी के उपकुलपति सर मौरिस ग्वायर (जो भारत में अंतिम ब्रिटिश चीफ जस्टिस भी थे) ने माहेश्वरी को नये वनस्पतिशास्त्र विभाग का अध्यक्ष पद सम्भालने के लिए आमंत्रित किया। यह माहेश्वरी के जीवन का सबसे उत्पादक काल रहा। 1950 में उनकी शोहरत दूर-दूर तक फैल चुकी थी। वो अद्‌भुत व्यक्तिगत गुणों से सम्पन्न थे और उनकी याददाश्त विलक्षण थी। उनका मिजाज सीधा-सादा, स्वतंत्र और असीमित ऊर्जा से भरा था। वो एक प्रखर विद्वान और प्रेरक शिक्षक थे जो अपने काम को ही भक्ति मानते थे। उनके आदर्श और मानदण्ड बहुत ऊंचे थे और वो घटिया के काम को कभी स्वीकार नहीं करते थे। वो अपने काम में मुस्तैद थे और समय के एकदम पाबंद थे।

माहेश्वरी ने अपने छात्रों को कम-कीमत के उपकरणों से शोध करने के लिए प्रेरित किया। धीरे-धीरे उनके प्रयासों का असर हुआ। जल्द ही उनके विभाग ने खूब प्रगति की और विदेशों में भी उसकी शोहरत फैली। धीरे-धीरे विभिन्न देशों के वैज्ञानिकों की भी वनस्पति भ्रूण-विज्ञान में रुचि जगी और वो भी इस विषय पर शोध करने लगे। माहेश्वरी को वनस्पति भ्रूण-विज्ञान का पिता कहा जा सकता है।

माहेश्वरी ने परखनली में एंजियोस्पर्मस के प्रजनन की तकनीक खोज निकाली। उससे पहले किसी ने फूल वाले पौधों के टेस्ट-ट्यूब में प्रजनन की कल्पना तक नहीं की थी। इससे बीजों की सुप्त अवस्था कम हुई और उनके प्रजनन की गति ने तेजी पकड़ी। इससे फूलों वाले पौधों की अनेकों संकर प्रजातियां तैयार करना सम्भव हुआ। पौधे तैयार करने वालों को यह तकनीक बहुत पसंद आयी क्योंकि इसके कई आर्थिक लाभ भी थे। दिल्ली यूनिवर्सिटी में आने के तुरन्त बाद उन्होंने *एन इंट्रोडक्शन टू एम्ब्रियॉलोजी* नाम की एक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक एक अनूठी कृति समझी जाती है और इसका अनुवाद रूसी भाषा समेत कई अन्य भाषाओं में हो चुका है। प्रकाशन के पचास वर्ष बाद भी इस किताब का अनेकों स्थानों पर उल्लेख किया जाता है!
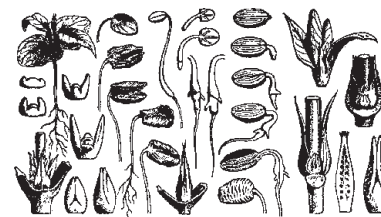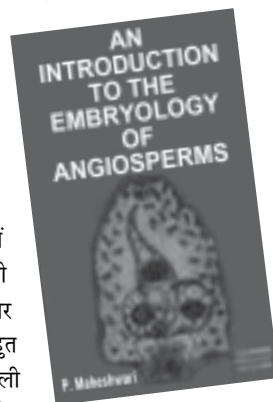
माहेश्वरी के काम ने वनस्पतिशास्त्र के सभी पक्षों को छुआ इसलिए उन्हें भारत का अंतिम सम्पूर्ण वनस्पतिशास्त्री मानना गलत न होगा। माहेश्वरी और उनके छात्रों ने पुष्पपादकों (एंजियोस्पर्मस) के सौ से भी अधिक परिवारों का गहन अध्ययन किया। दिल्ली की वनस्पतियों पर एक पुस्तक द *इलस्ट्रेटिड फ्लोरा ऑफ देहली* उनके मार्गदर्शन में लिखी गई। यह पुस्तक पिछले पचास वर्षों से दिल्ली के प्रकृति प्रेमियों और वनस्पति शास्त्रियों के लिए एक अच्छी फील्ड-गाइड का काम कर रही है।

माहेश्वरी ने पौधों की शक्ति का वर्णन करने के लिए अनेकों लोकप्रिय लेख लिखे। मिसाल के लिए उन्होंने लिखा कि गांधीजी का पहला सत्याग्रह एक पौधे के लिए था जिसका नाम था इंडिगोफेरा टिंकटोरा - जिसके सत्व से नीला रंग बनता था और जिसका उपयोग कपड़ा कारखानों में होता था।

1951 में उन्होंनें *इंटरनैशनल सोसाइटी ऑफ प्लांट मार्फौलोजिस्टस* की स्थापना की और साथ में उसका शोधपत्र *फाइटोमार्फौलोजी* शुरु किया। युवा छात्रों के लेखन को प्रखर बनाने के लिए उन्होंने द *बोटानिका* नामक पत्रिका शुरु किया। इसका प्रकाशन *देहली यूनिवर्सिटी बोटानिकल सोसाइटी* करती थी। पत्रिका में रोचक जानकारी होने के कारण उसे तुरन्त सफलता मिली। एनसीईआरटी के आग्रह पर उन्होंने हायर सेकण्डरी स्कूल के छात्रों के लिए जीवशास्त्र की एक पाठ्य-पुस्तक लिखी। उसमें भारतीय पेड़-पौधों की बहुत प्रेरक जानकारी संकलित की गई थी। बहुत से शिक्षाविद्‌ इस पुस्तक को माहेश्वरी का सर्वोत्तम योगदान मानते हैं।
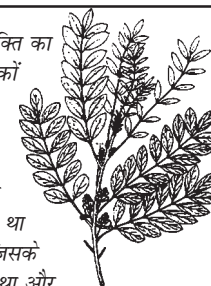
कक्षा में माहेश्वरी अपने गुरु डुडग्योन जैसे ही थे। उनके छात्र उनसे एक ओर बहुत प्रेम करते तो दूसरी ओर डरते भी थे। अपने गुरु के सम्मान में छात्रों ने पौधों की कई नई खोजी प्रजातियों को अपने गुरू के नाम समर्पित किया - जैसे *पंचाननिया जयपुरैन्सिस* और *आईसोईट्स पंचानिनी*। माहेश्वरी ने स्टैलिन के प्रिय जीवशास्त्री ट्रोफिम लाईसिन्को से अकेले लोहा लिया। लाईसिन्को का मानना था कि सीखी गयी बातें वंशानुक्रम का हिस्सा बन जाती हैं - जो सरासर गलत था।

पंचानन माहेश्वरी समस्त विश्व के वैज्ञानिक नागरिक थे और कई देशों की वैज्ञानिक अकादमियों ने उन्हें अपनी सदस्यता प्रदान की। 1934 में वो इंडियन एकेडमी ऑफ साइन्सिस, बैंगलोर के सदस्य बने। 1958 में इंडियन बॉटेनिकल सोसाइटी ने उन्हें बीरबल साहनी मेडल से सम्मानित किया। 1968 में उन्हें इंडियन नैशनल साइन्स कांग्रेस के अध्यक्ष पद के लिए चुना गया। यह रोल वो 18 मई 1966 को अपनी आकस्मिक मृत्यु के कारण निभा नहीं पाए। 1966 में उन्हें प्रख्यात रॉयल सोसाइटी का फेलो चुना गया। माहेश्वरी एक गम्भीर व्यक्ति थे और उन्होंनें यह बात अपने परिवारजनों तक को नहीं बताई। परिवार के लोगों ने यह खबर अगले दिन अखबार में पढ़ी।

इरावती कर्वे

(1905 - 1970)

इरावती कर्वे भारत की पहली महिला मानवशास्त्री (एन्थ्रोपालौजिस्ट) थीं। बचपन से ही उनकी इस विषय में रुचि थी। उन्होंनें इस क्षेत्र में अग्रणी काम किया। इस विषय को पुणे यूनिवर्सिटी में सबसे पढ़ाने का श्रेय भी उन्हीं को है। उन्होंने बहुत लोकगीतों को संकलित किया और स्त्रियों की मुक्ति से सम्बंधित कविताओं का अनुवाद किया। अपनी पुस्तक *युगांत* में उन्होंनें प्राचीन ग्रंथ महाभारत की एक क्रांतिकारी व्याख्या कर पाठकों की समझ को बदला।
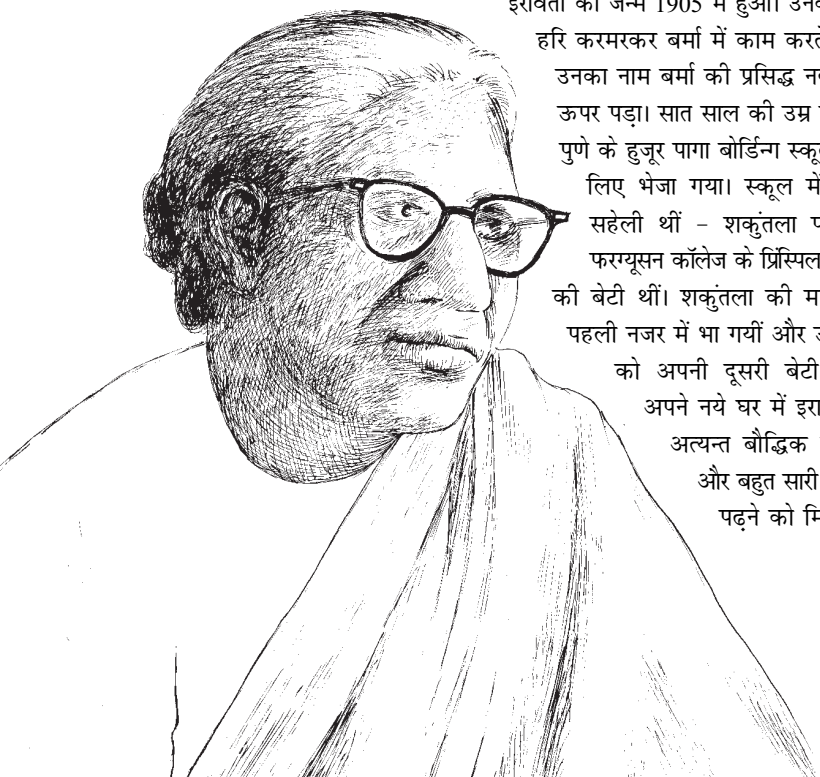
इरावती का जन्म 1905 में हुआ। उनके पिता गणेश हरि करमरकर बर्मा में काम करते थे। इसलिए उनका नाम बर्मा की प्रसिद्ध नदी इरावदी के ऊपर पड़ा। सात साल की उम्र में इरावती को पुणे के हुजूर पागा बोर्डिन्ग स्कूल में पढ़ने के लिए भेजा गया। स्कूल में उनकी एक सहेली थीं - शकुंतला परांजपे - जो फरग्यूसन कॉलेज के प्रिंस्पिल रैंगलर परांजपे की बेटी थीं। शकुंतला की मां को इरावती पहली नजर में भा गयीं और उन्होंनें इरावती को अपनी दूसरी बेटी जैसे पाला। अपने नये घर में इरावती को एक अत्यन्त बौद्धिक माहौल मिला और बहुत सारी रोचक पुस्तकें पढ़ने को मिलीं।

इरावती ने फरग्यूसन कॉलेज में दर्शनशास्त्र का अध्ययन कर 1926 में स्नातक की डिग्री प्राप्त की। फिर उन्हें दक्षिणा फेलोशिप मिली जिस से वो बम्बई यूनिवर्सिटी में समाज विज्ञान के प्रमुख प्रोफेसर जी एस घुरये के मार्गदर्शन में काम कर पायीं। इस बीच इरावती का विवाह दिनकर धोंडो कर्वे से हुआ। रासायन शास्त्री दिनकर प्रसिद्ध समाजसेवी महर्षि कर्वे के सुपुत्र थे। महश्रि कर्वे ने विधवाओं की शादी और महिलाओं की शिक्षा का बीड़ा उठाया था।

एक प्रगतिशील परिवार में शादी होने के कुछ फायदे तो कुछ नुकसान भी थे। वैसे तो महर्षि कर्वे महिलाओं को सार्वजनिक क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करते थे परन्तु यह प्रगतिशीलता उनके निजी परिवार पर लागू नहीं होती थी। जब इरावती को उच्च शिक्षा के लिए जर्मनी जाने का मौका मिला तो महर्षि कर्वे ने उसका पुरजोर विरोध किया।

विरोध के बावजूद इरावती 1928 में जर्मनी की कैसर विल्हेल्म इंस्टिट्यूट फॉर एंथ्रोपॉलोजी में पीएचडी करने गयीं। उनके शोध का विषय था - द *नार्मल एसिमिटरी ऑफ* द *हयूमन स्कल*। इरावती और दिनकर को लगा कि समाजसेवा उनके बस की बात नहीं है। इसलिए उन दोनों ने अध्यापन और शोध के क्षेत्र चुने। दिनकर रासायन शास्त्र के प्राध्यापक थे। वे बाद में फरग्यूसन कॉलेज के प्रिंसिपल बने। दिनकर अपनी पत्नी की विलक्षण प्रतिभा से परिचित थे और उन्होंने इरावती की भरपूर सहायता की। दिनकर ने घर-गृहस्थी की काफी जिम्मेदारी सम्भाली जिससे इरावती अपना शोधकार्य कर पायीं। इरावती के स्कूटर में पेट्रोल भरना और उनके पर्स में पैसे रखना भी दिनकर का ही काम था!

इरावती पुणे में स्कूटर चलाने वाली पहली महिला थीं! उन्होंनें मांग में रोली भरना और मंगलसूत्र पहनना अवश्य त्यागा था। परंतु चंद परम्पराएं तोड़ने के बावजूद इरावती ने एक मध्यम-वर्गीय हिन्दू जीवन ही जिया। स्कूल में उन्होंनें संस्कृत सीखी जो उस काल के छात्रों के लिए अनिवार्य था। इरावती के पिता ने उन्हें *भण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट* द्वारा प्रकाशित *महाभारत* के 18 भेंट किए। इरावती को यह भेंट बहुत पसंद आयी। इसी *महाभारत* पर आधारित उन्होंने बाद में अपनी मौलिक कृति *युगांत* लिखी। इसे 1967 में साहित्य अकादमी ने मराठी की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक के रूप में पुरुस्कृत किया। इस पुस्तक में महाभारत के आदरणीय पात्रों और महारथियों की पैनी समीक्षा की गई है।

जर्मनी से वापस आने के बाद इरावती ने 1931-36 के बीच बम्बई की एसएनडीटी यूनिवर्सिटी में रजिस्ट्रार पद पर काम किया। 1939 में उन्होंनें डेक्कन कॉलेज में रीडर के पद पर समाजशास्त्र सिखाना शुरु किया और वहीं से सेवानिवृत्त हुयीं। कुछ समय तक वो समाजशास्त्र विभाग में अकेले ही पढ़ाती रहीं जिसकी वजह से उन्हें इस विषय के सभी पेपर्स पढ़ाने पड़ते थे जो बहुत बोझिल काम था।

इरावती अपने एमए के सुपरवाइजर प्रोफेसर जी.एस. घुरये के शोध से बहुत प्रभावित थीं। दोनों परिवार, जाति, धर्म को महत्वपूर्ण मानते थे और इन इकाइयों को भारतीय समाज की बुनियाद समझते थे। इरावती समाज का समग्र चित्र गढ़ने के लिए विभिन्न जातियों और आदिवासी समाजों का सर्वेक्षण करना चाहती थीं। इरावती बहुत जिज्ञासु थीं और नये क्षेत्रों में फील्ड-वर्क और शोध करने की उनमें गहरी लगन थी। पुरात्तव उत्खनन और अन्वेषण में उनकी विशेष रुचि थी।

इरावती ने कुल मिलाकर अंग्रेजी में 102 लेख और पुस्तकें लिखीं। उन्होंने मराठी में भी आठ पुस्तकें लिखीं। उन्होंने अनेकों विषयों के बारे में विस्तार और विलक्षण रूप से लिखा। उनके लेखन में एक गहरी संवेदना थी जो उनके लेखन को बेहद अनूठा बनाती है। उन्होंनें भौतिक मानवशास्त्र और पुरात्तव विषयों पर काम किया और पाषाण युग के कंकालों का उत्खनन किया। जाति व्यवस्था, लोकगीत, कहानियों और मौखिक परम्पराओं को भी उन्होंनें लिपिबद्ध किया। साप्ताहिक बाजारों और बांध से उजड़े लोगों का उनके द्वारा किया सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण आज भी सामयिक और महत्वपूर्ण है।

बाद में इरावती के एक प्रतिभावान छात्र कैलाश मल्होत्रा ने *धनगर* और *नंदीवाली* - पशुपालन से जुड़ी दो जनजातियों का सर्वेक्षण कर मनुष्य द्वारा पर्यावरण पर पड़े प्रभाव को दिखाया।

उन दिनों किसी महिला के लिए फील्डवर्क करना कोई आसान काम नहीं था। इरावती के अपने शब्दों में

'मैं अपने काम के सिलसिले में इधर-उधर पागलों जैसी भटकती रही। मुझे यह तक नहीं पता था कि मेरा अगला कदम किधर उठेगा या अगला खाना कहां मिलेगा। बीच में कुछ सुस्ताने के बाद मैं फिर आदमियों और आरतों से खचाखच भरी बस में दुबारा सफर शुरु कर देती...।'

हंसमुख संकालिया - देश के प्रबुद्ध पुरात्तवेत्ता ने एक घटना का उल्लेख किया। एक बार वो और इरावती कहीं दूर-दराज गांव में सर्वेक्षण कर रहे थे। उनकी टीम में एक के 'अछूत' होने के कारण गांव वालों ने उन्हें खाना खिलाने से इंकार कर दिया। इसलिए दिन भर फील्ड-वर्क के बाद थकी-मांदी इरावती को रात को खुद पूरी टीम के लिए खाना भी बनाना पड़ा। छुट्टियों में वो अपने काम के सिलसिले में घूमतीं रहतीं जबकि बच्चे घर पर ही रहते। बच्चे उनकी लायी नई चीजें देखने और यात्राओं की रोचक कहानियां सुनने को आतुर रहते। कभी-कभी बच्चे भी उनके साथ घुमक्कड़ी पर निकल पड़ते। बेटी जाई एक बार मलबार, बिहार और उड़ीसा गई और पुत्र आनंद बेटा-कुरुबा और जेना-कुरुबा जनजातियों के चेहरों को नापने के लिए कूर्ग गया।

एक बार इरावती पुणे की मुला-मुठा नदी में घंटों पाषाण-युग के पुराने औजारों को खोजती रहीं। एक फील्ड ट्रिप के दौरान रात को कोई स्थान नहीं मिलने पर वो ट्रक में ही सोयीं।

मराठी में उनके लेख बेमिसाल हैं - जिनमें निकटता और दूरी का एक नाजुक संतुलन है। उनके लेखों में एक समाजशास्त्री की पैनी नजर है और साथ-साथ एक मंझे लेखक का भाषा सौंदर्य है। उन्होंने शब्दों में बहुत से संवेदनशील सांस्कृतिक चित्र उकेरे हैं। उनका एक प्रसिद्ध निबन्ध पंढरपुर की धार्मिक यात्रा के बारे में है। इरावती को मराठी में व्यक्तिगत निबन्धों का सिलसिला शुरु करने का श्रेय जाता है।

इरावती के शोध द्वारा हम अपने वर्तमान और अतीत के बीच के रिश्ते को बेहतर तरीके से समझ पाए। एक बहु-सांस्कृतिक, बहु-भाषीय, बहु-धार्मिक समाज और राष्ट्र के गठन की कठिनाओं से इरावती अच्छी तरह अवगत थीं। आज जब लाखों लोग बड़े बांध प्रकल्पों के कारण बेघर हो रहे हैं तब इरावती का कोयना बांध सम्बंधी सर्वेक्षण बहुत मायने रखता है। उनके लेखों में एक महिलामुखी दृष्टिकोण है - उन्होंनें महाभारत की घटनाओं को कुंती और द्रौपदी के नजरिए से देखा। इरावती के पथप्रदर्शक सामाजिक सर्वेक्षणों ने भविष्य के शोध की नींव रखी - विशेषकर महिला जागृति के क्षेत्र में।

बी.पी. पाल

(1906 - 1989)

'डॉ. बी.पी. पाल के काल में भारत में गेहूं का शोध दुनिया में सबसे चोटी पर था। सच मायने में वो भारत की हरित क्रांति के रचयिता थे।'
- डॉ. नार्मन बॉरलौग (नोबेल पुरुस्कार विजेता)

बेंजेमिन पियरे पॉल एक विश्वविख्यात जेनेटिक वैज्ञानिक तो थे ही साथ में वे अद्‌भुत मानवीय गुणों से भी सम्पन्न थे। एक काबिल वैज्ञानिक की हैसियत से उन्होंनें भारतीय कृषि के पिछड़ेपन की समस्याओं को गहराई से समझा। प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति उनमें एक गहरी संवेदना थी। पॉल एक गरमजोश और दयालु इंसान थे और अपने सहसाथियों के बहुत प्रिय थे। वो एक ओर गहन चिंतक थे तो दूसरी ओर खूब मजाक भी करते थे। उनकी अनेक चीजों में रुचि थी। वो एक उच्च कोटि के चित्रकार थे और उन्हें भारतीय और पश्चिमी दोनों प्रकार की संगीत शैलियों से प्रेम था। इतनी अलग-अलग चीजों में गहरी रुचियां रखने के कारण कुछ लोग उन्हें 'कृषि के होमी भाभा' मानते थे।

पॉल का जन्म 26 मई 1906 को मुकन्दपुर, पंजाब में हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा बर्मा में हुई जहां उनके पिता मेडिकल डॉक्टर थे। बर्मा में वो सेन्ट मॉइकिल्स स्कूल में पढ़े और यहां उनकी गुलाबों और चित्रकारी में रुचि पैदा हुई। स्कूल में एक अत्यन्त सुन्दर गुलाब का बाग था और उनके कई शिक्षकों की बागवानी और पेंटिन्ग में रुचि थी। पॉल अपनी कक्षा में हमेशा सर्वप्रथम आते। एक बार उन्हें

इनाम में एक पेन्ट-बाक्स मिला। शायद इसी कारण वो अपनी सारी जिन्दगी चित्रकारी करते रहे।

1929 में उन्होंने एमएससी (वनस्पतिशास्त्र) में पूरी यूनिवर्सिटी में टॉप किया और मैथ्यू हंटर मेडल जीता। इसके बाद वो केम्ब्रिज गए जहां उन्होंने पीएचडी पूरी की। सर रोलेंड बिफिन और सर फ्रैंक एंग्लडो के मार्गदर्शन में सम्पन्न उनकी पीएचडी आज भी एक क्लासिक समझी जाती है। अपने शोध में पॉल ने पहली बार गेहूं की संकर प्रजातियों की सम्भावनाओं को उजागर किया। 1933 में उन्होंनें बिहार स्थित पूसा में इंडियन (इम्पीरियल) एग्रीकल्चरल इंस्टिट्यूट में काम करना शुरु किया। 1937 में पदोन्नति के बाद वो वहीं इम्पीरियल इकनोमिक बॉटानिस्ट बने। 1936 के भूकम्प में पूसा इंस्टिट्यूट बुरी तरह ध्वस्त हो गई और उसे दिल्ली शिफ्ट किया गया। तब पॉल भी दिल्ली आए।

डॉ. पॉल के महत्वपूर्ण योगदान को समझने के लिए हमें 1960 में भारत में खाद्यान्यों की दयनीय स्थिति पर नजर डालनी चाहिए। खाद्यान्यों की बेहद किल्लत के कारण सारी दुनिया भारत को भुखमरों का देश मानने लगी थी। उस दौरान हजारों-लाखों भारतीय अमरीका द्वारा पीएल-480 में दान दिए खाद्यान्यों की वजह से ही जिन्दा बच पाए। पॉल के नेतृत्व में शुरु हुई हरित क्रांति देश में एक अभूतपूर्व परिवर्तन लाई और धीरे-धीरे करके भारत एक भूखे देश से एक खाद्यान्य बाहुल्य देश बना।

पॉल ने कृषि के जिन पांच क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान दिया वे हैं - अनुसंधान, शिक्षा, कृषि-विस्तार, संस्था निर्माण और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग। इन सभी क्षेत्रों में उन्होंने अथक मेहनत और लगन से अद्वितीय काम किया और हरेक क्षेत्र में कामयाबी और सफलता हासिल की।

अनुसंधान के क्षेत्र में पॉल का प्रमुख काम बहुरोगी कीट निरोधी गेहूं की संकर प्रजातियों का निर्माण करना था। कृषि उत्पादन जैविक विविधता के संतुलित विकास द्वारा ही बढ़ेगा यह बात पॉल को स्पष्ट विदित थी। वैज्ञानिक पद्धति द्वारा नए जीन्स खोजने के लिए उन्होंनें *प्लांट इंट्रोडक्शन डिविजन* की स्थापना की। बाद में यही *विभाग नैशनल ब्यूरो ऑफ प्लांट जेनेटिक रिसोर्सिस* बना। उन्होंनें उच्च तकनीकों का उपयोग कर आलू, टमाटर और तम्बाकु की नई-नई प्रजातियां विकसित कीं। इसके लिए उन्होंने विभिन्न संस्थाओं के विलक्षण वैज्ञानिकों को आपस में सहयोग और सक्रिय भागादारी से शोध करने के लिए प्रेरित किया।

पॉल को लगा कि भारत जैसे कृषि प्रधान देश को भविष्य में उच्च कोटि के कृषि वैज्ञानिकों की एक बड़ी फौज की जरूरत होगी। इन्हीं वैज्ञानिकों के बुनियादी शोध द्वारा देश में कृषि उपज बढ़ेगी और देश तरक्की करेगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने
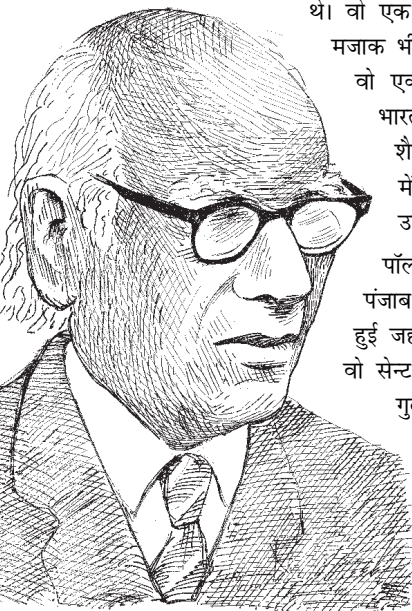
भारतीय कृषि अनुसंधान संस्था में उच्च शिक्षा के लिए एक पोस्ट-ग्रैजुएट स्कूल स्थापित किया। जल्द ही उसे यूनिवर्सिटी ग्रॅान्टस कमिशन ने एक यूनिवर्सिटी का दर्जा प्रदान किया। इस संस्था से निकले 4000 से भी अधिक एमएससी और पीएचडी के शोधकर्ताओं ने भारत की सैकड़ों करोड़ जनता को भोजन उपलब्ध कराया और साथ-साथ देश को खाद्यान्यों में आत्म-निर्भर बनाया है।

पॉल उपयोगी व्यावहारिक अनुसंधान के लिए उत्तम गुणवत्ता के बुनियादी शोध को एकदम जरूरी मानते थे। इसके लिए उन्होंनें इंडियन एग्रीकल्चर रिसर्च इंस्टि्टयूट (आईएआरआई) में स्कूल ऑफ फंडामेंटल जेनेटिक्स की स्थापना की। उन्होंने किसानों की समस्याओं के निदान के लिए कई संस्थाओं के साथ बहु-विषयी शोधकार्य की शुरुआत की। (आईएआरआई) के निदेशक की हैसियत से उन्होंनें अनुसंधान, शिक्षा और विस्तार के काम को बहुत आगे बढ़ाया।

पॉल ने 1965-72 तक इंडियन काउंसिल फॉर एग्रीकल्चरल रिसर्च के डायरेक्टर-जनरल के पद पर भी काम किया। इसी काल में गेहूं, धान, बाजरे और मक्का की उच्च पैदावार देने वाली संकर प्रजातियां बड़े पैमाने पर किसानों को बोने के लिए उपलब्ध हुयीं। हरित-क्रांति को और बढ़ावा देने के लिए पॉल ने कृषि से जुड़े जानवरों और मछलियों के अनुसंधान पर भी बल दिया। इस दौर में भारत ने विश्व की सर्वश्रेष्ठ अनुसंध ान संस्थाओं के साथ हाथ मिलाया और मिलकर शोधकार्य किया - मेक्सिको के साथ गेहूं पर और फिलिपीन्स के साथ धान पर। इससे राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर पॉल की प्रतिभा फैली।

शोधकर्ताओं के लिए पॉल का नारा था - *'खेत की समस्याओं को सुलझाओ'*। *'प्रयोगशाला से खेत तक'* उनका दूसरा नारा था जिसे क्रियान्वन के लिए पॉल ने अथक परिश्रम किया। उनका मानना था कि कृषि क्षेत्र में किसी भी नवाचार का अंतिम मूल्यांकन अंतत: किसान ही कर सकता है। कृषि के छात्र भारतीय समाज की जटिलताओं को अच्छी प्रकार समझें इसलिए उन्हें अपने पाठ्यक्रम में बहुत से समाजशास्त्र से जुड़े विषय भी पढ़ने पड़ते थे। आईसीएआर का यह संशोधित मॉडल इतना सफल हुआ कि उसे कई विकासशील देशों - पाकिस्तान, बांग्लादेश, फिलिपीन्स और नाईजीरिया ने सहर्ष अपनाया।

सेवानिवृत्ति के बाद पॉल ने अपनी सारी ऊर्जा पर्यावरण संरक्षण के काम के लिए लगायी। वो नैशनल कमेटी ऑन इन्वायरनमेंटन प्रोटेक्शन एंड कोआरडिनेशन के पहले चेयरमैन बने। पॉल एक उच्च कोटि के प्लांट-ब्रीडर थे और उन्होंनें गुलाब की कई नई प्रजातियों का आविष्कार किया। वो *रोज* और *बोगनवेलिया सोसाइटी* के भी अध्यक्ष थे। प्रसिद्ध वैज्ञानिक एम.एस. रंधावा के साथ मिलकर उन्होंने चंडीगढ़ का रोज-गार्डन स्थापित किया। उनका घर लोगों के लिए सदैव खुला रहता था और वो शोधकर्ताओं की सहायता को हमेशा तत्पर रहते थे।

पॉल ने *इंडियन सोसाइटी ऑफ जेनिटिक्स एंड प्लांट ब्रीडिंग* की स्थापना की और *जर्नल ऑफ जेनेटिक्स एंड प्लांट ब्रीडिंग* को पच्चीस वर्ष तक सम्पादित किया। फूलों के प्रति अपने प्रेम के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंनें ढेरों लोकप्रिय पुस्तकें लिखीं जिनमें द *रोज इन इंडिया, ब्यूटिफुल क्लाइम्बर्स ऑफ इंडिया, फ्लावरिंग श्रब्ज* और *इन्वायरनमेंटल कन्जरवेशन एंड डेवलपमेंट* उल्लेखनीय हैं।

वो कई अंतर्राष्ट्रीय शोध संस्थाओं के ट्रस्टी थे और उन्होंनें बहुत से विकासशील देशों में कृषि अनुसंधान को सही दिशा प्रदान की। वैज्ञानिक समुदाय में उनका रुतबा इतना बुलंद था कि उन्हें फेलो ऑफ द रॉयल सोसाइटी की सदस्यता के साथ-साथ फ्रांस, जापान, रुसी और थर्ड व्र्लड एकैडमी ऑफ साइंसिस का सदस्य भी चुना गया। 1987 में भारत सरकार ने उन्हें पद्मविभूषण से सम्मानित किया। 2007 में भारतीय डाक विभाग उनके सम्मान में उनके प्रिय गुलाब के फूलों के साथ एक डाक टिकट छापा।

पॉल गहरे मानवीय मूल्यों से ओत-प्रोत एक कोमल स्वभाव के व्यक्ति थे। उन्होंनें अपने द्वारा बनाई गुलाब की नई प्रजातियों के नाम प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिकों - सर सी.वी. रमन और होमी भाभा के नाम पर रखे। उनको भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद से गहरा लगाव था और अंत में वे अपनी पूरी सम्पत्ति - समस्त लेख, गुलाबों का संग्रह और दिल्ली एवं शिमला के मकान सभी कुछ इसी संस्था को दान कर गए। उनका देहान्त 1989 में हुआ।

प्रोफेसर दामोदर धर्मानन्द कोसम्बी सचमुच पुनर्जागरण की बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न थे। वो उन गिने-चुने चंद भारतीयों में से थे जिन्होंनें बीसवीं सदी के विज्ञान के मानव जाति पर हुए प्रभाव को समझा था। प्रचार और प्रसिद्धी के पथ को नकारते हुए उन्होंनें ज्ञान-विज्ञान के कई क्षेत्रों में अद्वितीय अनुसंधान किया जिनमें - गणित, सांख्यिकीय, मुद्राशास्त्र, इंडोलोजी, इतिहास और समकालीन सामाजिक समस्याएं शामिल थीं। उन्होंनें आणविक हथियारों की पुरजोर खिलाफत की और सारी जिन्दगी विश्व शांति आंदोलनों के लिए काम किया।

उनके शोधकार्य का कैनवस बहुत विशाल था। पेशे से एक गणितज्ञ होने के बावजूद उन्होंने व्यावसायिक इतिहासकारों को भारतीय इतिहास को देखने का एक मौलिक नजरिया सिखाया। पाषाण युग के पत्थर के बने औजारों और शिलास्तम्भों के उनके संग्रह से पुरात्तव-विज्ञान का महत्वपूर्ण विकास हुआ। उन्होंनें प्राचीन काल में आवागमन के अनेकों मार्ग खोजे। उन्होंने कारला गुफा में खुदे ब्राहमी लिपि के शिलालेखों की पहली बार व्याख्या की। कोसम्बी ने खुद अपने आप सांख्यिकीय सीखी। इसके लिए उन्होंनें एक व्यवहारिक समस्या को चुना। उन्होंनें 7000 से भी अधिक पंच-मार्क प्राचीन मुद्राओं को एक संवेदनशील तराजू में बारीकी से तोला। उनके इस शोध से मुद्राशास्त्र को एक वैज्ञानिक विषय का दर्जा प्राप्त हुआ। उन्होंनें दो क्रोमोजोम्स के बीच की दूरी ज्ञात करने का एक सूत्र रचा जो आज क्लासिकल जेनेटिक्स का एक स्तम्भ है। हर विषय की बारीकी से जांच-पड़ताल, गहन अध्ययन और विषय पर आधिकारिक पकड़ के साथ-साथ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रणाली द्वारा उन्होंनें तमाम बुनियानी प्रश्न खड़े करे और कई सवालों के मौलिक उत्तर भी सुझाए।
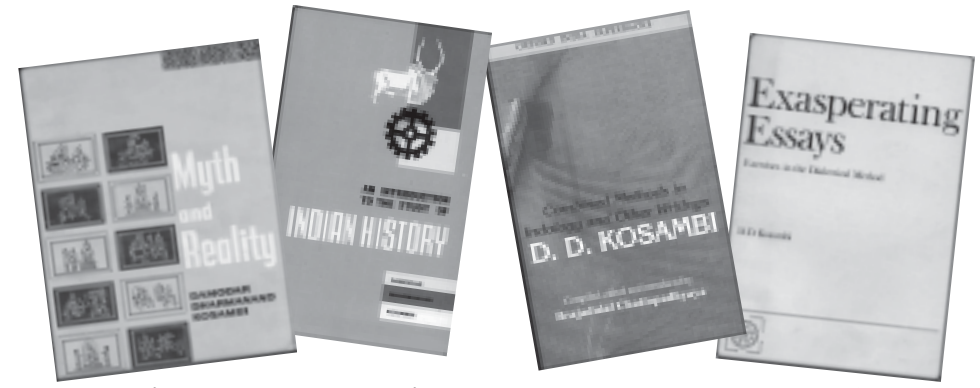
1956 में उनकी पहली पुस्तक *एन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री* प्रकाशित हुई। छपने के पांच साल के अंदर ही यह पुस्तक विश्व भर के इतिहास शोधकर्ताओं के लिए अनिवार्य समझी जाने लगी। उसके बाद उनकी दो अन्य पुस्तकें *मिथ एंड रियैल्टी* (1962) और द *कल्चर एंड सिविलाईजेशन ऑफ ऐंशन्ट इंडिया इन हिस्टौरिकल आउटलाइन* (1965) छपीं। इन सभी पुस्तकों का विश्व की तमाम भाषाओं में अनुवाद हुआ। कोसम्बी ने भृतहरि का प्राचीन संस्कृत ग्रंथ *सुभाषितरत्नकोष* सम्पादित किया। आज भी यह एक बहुमूल्य अनुसंधान समझा जाता है।

कोसम्बी ने न केवल भारतीय इतिहास को समझने का एक नया दृष्टिकोण दिया परन्तु साथ-साथ उन्होंने उसे समझने का तरीका भी विकसित किया। उनके मतानुसार इतिहास सिर्फ बीते हुए अतीत के बारे में नहीं होता। इतिहास वर्तमान में भी जीता है। इसलिए कोसम्बी ने अपने इतिहास के शोध में तमाम बातों का अध्ययन किया - लोग कैसे जीते हैं, वो क्या चीजें इस्तेमाल करते हैं, उनके रीति-रिवाज क्या हैं, उनका भोजन और संगीत क्या है? इन सब बातों की जांच-परख से कोसम्बी अतीत और वर्तमान के बीच एक निरन्तरता स्थापित कर पाए।

1990 के शुरुआत में कोसम्बी के भारतीय इतिहास के दृष्टिकोण पर आधारित 13 भाग का एक टेलिवीजन सीरियल बना - *इंडिया इंवेन्टिड*। इसे जाने-माने समाज वैज्ञानिक अरविन्द नारायण दास ने बनाया। इस अद्वितीय सीरियल के सभी भाग अब गूगल विडियो पर निशुल्क उपलब्ध हैं।

दामोदर धर्मानन्द कोसम्बी का जन्म 31 जुलाई 1907 को हुआ। उनके प्रारम्भिक साल कोंकणी भाषा बोलते हुए गोवा में बीते। उनके पिता आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी बुद्ध धर्म के सुप्रसिद्ध पण्डित थे और पुणे के फरग्यूसन कॉलेज में पढ़ाते थे। इसलिए दामोदर की प्रारम्भिक शिक्षा पुणे में ही हुई। आचार्य धर्मानन्द हारवर्ड विश्वविद्यालय में विजिटिन्ग फैकल्टी थे जहां वो पाली में लिखित बौद्ध ग्रंथों पर शोधकार्य करते थे। 1918 में अपनी दूसरी हारवर्ड यात्रा के दौरान आचार्य धर्मानन्द अपनी 19 वर्षीय बेटी मानिक और 11 वर्षीय बेटे दामोदर को भी अपने साथ अमरीका ले गए। तब तक दामोदर को सब लोग *बाबा* के नाम से जानने लग गए थे। वो पहले केंब्रिज ग्रॉमर स्कूल में और उसके बाद केंब्रिज लैटिन स्कूल में पढ़े। चार साल बाद आचार्य कोसम्बी

भारत लौटे परन्तु बाबा अपनी पढ़ाई पूरी करने के लिए अमरीका में ही रुके। वो बीच में भारत आए और उन्होंनें यहां पर कॉलेज में दाखिला लेने की कोशिश की। परन्तु दोनों देशों की भिन्न शिक्षा प्रणालियों के कारण यह सम्भव नहीं हो पाया। इसलिए 1926 में बाबा अमरीका वापस गए और उन्होंनें विश्वविख्यात हारवर्ड यूनिवर्सिटी में दाखिला लिया।

दामोदर अपने शरीर को चुस्त रखने के लिए नियमित रूप से वर्जिश और तैराकी करते। वो नाव चलाते और पर्वतारोहण करते। पढ़ाई में उन्हें बहुत अच्छे अंक मिलते। परन्तु एक सेमिस्टर में उन्हें तीन 'ए' और एक 'बी' ग्रेड मिला। इससे उनके पिता नाराज हुए। इस चुनौती को स्वीकार करते हुए बाबा ने गर्मियों की छुट्टियों में इटैलियन भाषा का एक कोर्स लिया। इस भाषा का उन्हें पहले बिल्कुल भी ज्ञान न था। इस कोर्स में उन्हें उनके टीचर ने 'ए+' का ग्रेड दिया। साथ में टिप्पणी भी लिखी कि उन्होंनें वो ग्रेड अपने जीवन में पहली ही बार किसी को दिया है। इस रिपोर्ट कार्ड को बाबा ने अपने पिता को भेजा। हारवर्ड में बाबा का कमरा तमाम विषयों की पुस्तकों से खचाखच भरा रहता था। उनके कमरे में एक गांधीजी का एक फोटो भी लटका रहता था।

कोसम्बी ने गणित की उच्च शिक्षा के साथ-साथ में कई यूरोपीय भाषाएं - ग्रीक, लैटिन, फ्रेंच और जर्मन भी सीखीं। उन्होंने संस्कृत के साथ-साथ ब्राहमी और प्राकृत भाषाएं भी सीखीं। अमरीका के समृद्ध पुस्तकालयों में वो ज्ञान के सभी पहलुओं से परिचित हुए। खगोलशास्त्र, मस्तिष्क की गहराईयों और अतीत के अवशेषों को एकत्रित करने तक तमाम विषयों में उनकी रुचि जागृत हुई। बौद्धिक क्षमताओं और ऊर्जा के लिहाज से कोसम्बी इनमें से ज्ञान के किसी भी क्षेत्र में उत्तम अनुसंधान कर खुद को स्थापित कर सकते थे। परन्तु इसके

बावजूद उन्होंनें गणित का विषय ही क्यों चुना? गणित का जादू उनका मन मोह चुका था। गणित के नतीजों की अद्भुत स्पष्टता उन्हें बौद्धिक रूप से अपार संतुष्टि प्रदान करती थी।

1929 में कोसम्बी ने उच्च श्रेणी में हारवर्ड से अपनी उच्च शिक्षा संपूर्ण की। उस दौर में आर्थिक मंदी के कारण शिक्षा में वजीफे मिलने बहुत कठिन थे इसलिए वो भारत वापस लौट आए। उसके बाद वो सारी जिंदगी भारत में अपनी सांस्कृतिक जड़ों के करीब ही रहे।

कोसम्बी ने जीवन भर गणित पढ़ाई। 1929-31 तक उन्होंने बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय में अध्यापन किया। यहां उन्होंनें गणित के साथ-साथ जर्मन भाषा भी पढ़ाई। जर्मन को कोसम्बी विज्ञान की भाषा मानते थे। उसके बाद कुछ समय उन्होंनें अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी में भी पढ़ाया। 1933 में उन्होंनें पुणे स्थित फरग्यूसन कॉलेज में अध्यापन शुरु किया। यहां जल्द ही उनकी गिनती एक सच्चे और प्रेरक शिक्षक के रूप में उभरी। उनके लेक्चर्स का लाभ केवल गम्भीर और मेहनती छात्र ही उठा पाते थे। नोट्स के लिए लालायित साधारण छात्र उनके रवइये से अक्सर निराश भी होते। चौदह साल गणित पढ़ाने के बाद कोसम्बी ने कॉलेज अधिकारियों के साथ गम्भीर मतभेदों के कारण फरग्यूसन कॉलेज छोड़ दिया। वो परीक्षा आधारित शिक्षा प्रणाली और उसके अप्रेरक तरीकों से बहुत दुखी थे।

1946 में उन्हें होमी भाभा ने बम्बई में नई स्थापित टाटा इंस्टिट्यूट ऑफ फंडामैन्टल रिसर्च में काम करने के लिए आमंत्रित किया। भाभा और कोसम्बी दोनों के व्यक्तित्व बहुत भिन्न होने के कारण उनके बीच के रिश्ते जल्द ही खराब हो गए। भाभा क्योंकि एक नई संस्था रच रहे थे इसलिए वो अब वैज्ञानिक कार्य कम और प्रबंधन में ज्यादा लग गए। दोनों के बीच भीषण वैचारिक मतभेद भी थे - एक ओर भाभा आणविक-ऊर्जा को प्रोत्साहित कर रहे थे तो दूसरी ओर कोसम्बी पूर्णत: सौर-ऊर्जा के पक्षधर थे।

1962 में टीएफआईआर ने उनकी सेवाएं रद्द कर दीं । 1964 में सीएसआईआर ने उन्हें सेवामुक्त वैज्ञानिक की हैसियत से नियुक्त किया और कोसम्बी पुणे की महाराष्ट्र एसोसिएशन फॉर कल्टीवेशन ऑफ साइन्स के साथ जुड़ गए।
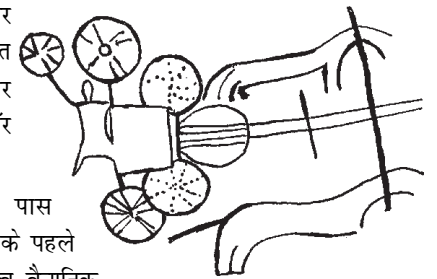
मेजर-जनरल इनायत हबीबुल्ला पुणे के पास खडकवासला स्थित नैशनल डिफेन्स एकैडमी के पहले कमांडेन्ट थे। हबीबुल्ला खुद एक शौकिया पुरातत्व-वैज्ञानिक थे। उन्होंने कोसम्बी को एनडीए में एक पुरातत्व क्लब (आरकियालोजिकल सोसाइटी) स्थापित करने के लिए आमंत्रित किया। यहां पर कोसम्बी ने उत्सुक छात्रों और शिक्षकों को पाषाण युगीन पत्थर के औजारों और अन्य प्राचीन अवशेषों को खोजने के लिए प्रेरित किया।
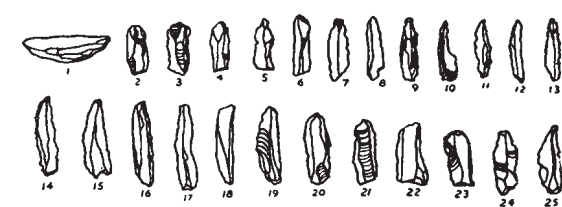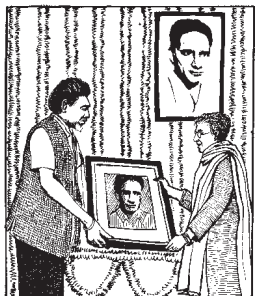
2007 में कोसम्बी शताब्दी समारोह के दौरान प्रो मीरा कोसम्बी को उनके पिता का तैलचित्र भेंट किया गया।

1931 में कोसम्बी का विवाह नलिनी मडगांवकर से हुआ। उनकी बड़ी बेटी माया की शादी के कुछ वर्ष बाद ही कैंसर से मृत्यु हो गयी। उनकी छोटी बेटी मीरा पुणे की एक विख्यात समाजशास्त्री हैं।

1949 में कोसम्बी को 'पॉथ ज्योमेटरी' सिखाने के लिए शिकागो आमंत्रित किया गया। बाद में उन्हें प्रिन्सटन स्थित इंस्टि्टयूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज में आमंत्रित किया गया जहां उनकी आइन्सटीन से न केवल भेंट हुई वरन लम्बी चर्चा भी हुई।

कोसम्बी का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के दर्शन में विश्वास था पर वो साथ-साथ परम्परागत कम्यूनिस्ट पार्टियों के खिलाफ थे जिन्हें उन्होंनें *आफिशियल मार्क्सिस्ट* (ओम) की उपाधि दी थी। आणविक ऊर्जा के खिलाफ होने के कारण भाभा और उनमें बिल्कुल नहीं बनी। जवाहरलाल नेहरु की पुस्तक *डिस्कवरी ऑफ इंडिया* जब छपी तब कोसम्बी ने उसकी धज्जियां उड़ायीं और भारतीय इतिहास को लेकर नेहरु की छिछली समझ का पर्दाफाश किया। अपने स्वतंत्र विचारों के कारण सरकार और वामपंथी पार्टियों दोनों ने कोसम्बी की उपेक्षा की। कोसम्बी ने 1934 में मात्र 26 वर्ष की अल्पायु में पहला रामानुजन मेमोरियल पुरुस्कार जीता और 1947 में भाभा पुरुस्कार जीता। यह भारतीय राज्य की असंवेदना का द्योतक है कि उसने देश के सर्वोच्च कोटि के इस बुद्धिजीवी की पूणत: उपेक्षा की और उन्हें कोई भी राज्य सम्मान नहीं दिया।

2007 में कोसम्बी की जन्म शताब्दी के उपलक्ष में पूरे साल भर पुणे में प्रमुख बुद्धिजीवियों के भाषणों का आयोजन किया गया। भारत सरकार ने काफी विलम्ब के बाद कोसम्बी की याद में डाक टिकट जारी किया और साथ में पुणे यूनिवर्सिटी में *'कोसम्बी चेयर'* की स्थापना के लिए एक करोड़ रुपए का अनुदान भी दिया।

मात्र 58 साल की अल्प आयु में ही इस विलक्षण प्रतिभा का देहान्त 29 जून 1966 को हुआ। परन्तु शताब्दियों बाद भी लोग कोसम्बी के बहुमुखी बौद्धिक योगदान को याद करेंगे।

कोसम्बी वर्ल्ड पीस मूवमेन्ट के सक्रिय सदस्य थे। उन्हें पंचशील का चिन्ह बहुत पसन्द था। उन्होंने आग्रह कर इस चिन्ह को अपनी पुस्तक ***इग्जैसपरेटिन्ग एसेज*** *में छपवाया।*

होमी भाभा

(1909 - 1966)
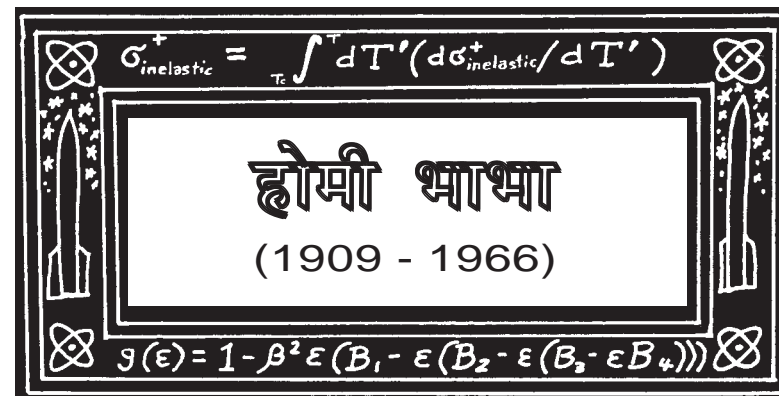
होमी भाभा ने कहा, *'जो देश दुनिया में अग्रणी रोल निभाना चाहता है वो कभी बुनियादी वैज्ञानिक शोधकार्य और लम्बी अवधि के अनुसंधान को भूल नहीं सकता।'* भाभा ने अकेले भारतीय आणविक-ऊर्जा की बुनियाद रखी और देश के अंतरिक्ष और इलेक्ट्रानिक्स कार्यक्रम का पोषण किया। उन्होंनें विलक्षण प्रतिभा के लोगों के इर्द-गिर्द उच्च-कोटि की संस्थाएं स्थापित कीं। एक दूरदर्शी के नाते उन्होंने भविष्य में काम आने वाली अनेकों संस्थाएं स्थापित कीं जैसे - टीआईएफआर, बीएआरसी और इसरो।

होमी जहांगीर भाभा का जन्म 30 अक्टूबर 1909 को बम्बई में एक प्रतिष्ठित पारसी परिवार में हुआ। उनकी टाटा के परिवार से रिश्तेदारी थी। जिस घर में वो पैदा हुए वहीं आगे चलकर भारत के आणविक कार्यक्रम की शुरुआत हुई। होमी की प्रारम्भिक शिक्षा बम्बई के कैथीड्रल और जॉन कौनन स्कूलों में हुई। वो पढ़ाई में प्रवीण थे और पुस्तकों के बेहद शौकीन थे। पिता की एक विशाल लाइब्रेरी ने उन्हें एक व्यापक दृष्टिकोण दिया। होमी की पेंन्टिग और पाश्चात्य संगीत में भी गहरी रुचि थी।

सीनियर केम्ब्रिज की परीक्षा पास करने के बाद उन्होंने कुछ वर्ष बम्बई की रॉयल इंस्टि्टयूट ऑफ साइन्स में पढ़ाई की। उसके बाद वो उच्च शिक्षा के लिए केम्ब्रिज गए। उनके पिता चाहते थे कि वो एक इंजिनियर बनें और बाद में टाटा समूह में किसी उच्च ओहदे पर काम करें। परन्तु होमी की रुचि केवल एक विषय में थी और वो था भौतिक शास्त्र। उन दिनों फिजिक्स में एक नई क्रांति की लहर आ रही थी और केम्ब्रिज उसके लिए सबसे उपयुक्त स्थान था।

भौतिक शास्त्री एल्बर्ट ऑइन्सटीन, हेडकी युकावा, जॉन व्हीलर और होमी भाभा

होमी के उदार पिता ने उन्हें मिकैनिकल ट्राइपौस में उर्त्तीण होने के बाद मैथिमैटिकल ट्राइपौस करने की अनुमति दे दी। 1932 में भाभा ने राउज-बॉल ट्रैवलिन्ग फेलोशिप जीती जिसके कारण वो ज्यूरिख में वॉलफगैंग पॉली और रोम में एनरिको फर्मी के साथ काम कर पाए। उसके पश्चात आईजैक न्यूटन वजीफा मिलने से कुछ समय कोपेनहैगन स्थित नील्स बोहर इंस्टिट्यूट में बिता पाए। इस बीच में भाभा ने प्रोफेसर फाउल्र के मार्गदर्शन में अपनी पीएचडी पूरी की। प्रख्यात खगोलशास्त्री और नोबेल पुरुस्कार विजेता एस चंद्रशेखर के गॉइड भी फाउल्र ही थे।

भाभा ने केम्ब्रिज में उत्साहपूर्वक अपने दिन बिताए। यहां उन्होंने इलेक्ट्रॉन-पौजिट्रॉन स्कैटरिंग की खोज की जो आज *भाभा-स्कैटरिंग* के नाम से जानी जाती है। वाल्टर हाइटलर के साथ मिलकर उन्होंने *कास्केड थ्योरी* यानि कॉस्मिक किरणो की बौछार की व्याख्या की। इस योगदान के बाद भाभा की प्रतिभा एक युवा और निपुण भौतिकशास्त्री के रूप फैल गई।

1939 में भाभा कुछ दिनों की छुट्टी के लिए स्वदेश लौटे। उसी समय द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। युद्ध के कारण यूरोप में वैज्ञानिक शोधकार्य के लिए वजीफे बहुत कम हो गए। शायद इसमें कुछ अच्छाई छिपी थी क्योंकि अब भाभा को भारत में ही कोई नौकरी ढूंढनी थी। उनके विलक्षण काम के कारण भाभा को इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ साइन्स, बैंग्लोर में तुरन्त नौकरी मिल गई। उन्होंनें सर दोराब टाटा ट्रस्ट के एक अनुदान से कॉस्मिक-किरणों पर अपना शोधकार्य जारी रखा।

बैंगलोर में भाभा के सैद्धांतिक कार्य से एक कण के दो-भार वाली समीकरण बनी जो अब *भाभा समीकरण* के नाम से प्रसिद्ध है। इन्हीं दिनों भाभा ने हरीश चंद्र के साथ भी काम किया। बाद में हरीश चंद्र एक उच्च कोटि के गणितज्ञ के रूप में जगप्रसिद्ध हुए। कॉस्मिक-किरणों के ऊंचाईयों पर अध्ययन के लिए भाभा ने गाईगर काउंटर टेलिस्कोप बनाए और उन्हें भारतीय वायुसेना के हवाईजहाजों में उड़ाया।

द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने के बाद भाभा फिर एक दोराहे पर आ खड़े हुए। वो वापस यूरोप जाएं जहां वैज्ञानिक शोध की अपार सम्भावनाएं थीं या फिर भारत में रह कर कार्य करें? इस बार उन्होंनें जे.आर.डी. टाटा से इसके बारे में उनकी राय मांगी। भाभा ने टाटा को लिखा, *'अपने देश में रह कर काम करना और विश्व स्तर की अनुसंधान और शोध संस्थाएं स्थापित करना प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य है।'*

भाभा का विश्वास था कि यह विलक्षण स्कूल देश में आणविक-ऊर्जा के विकास के लिए वैज्ञानिकों की भरपाई करेंगें और भविष्य में भारत को इस क्षेत्र में अन्य देशों का मुंह नहीं ताकना पड़ेगा। मात्र एक लाख के अनुदान से भाभा ने 1 जून 1945 को टाटा इंस्टिट्यूट ऑफ फन्डामेंटल रिसर्च की स्थापना की। संस्था की शुरुआत बैंगलोर में हुई परन्तु चंद महीनों के बाद ही वो बम्बई शिफ्ट हुई और वो भी उसी बंगले में जहां भाभा का जन्म हुआ था।

देश के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरु और भाभा दोनों का सपना भारत में विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में स्थानीय क्षमताएं रचना और उन्हें विकसित करना था। नेहरु ने भाभा को देश में वैज्ञानिक संस्थाओं का ताना-बाना स्थापित करने के लिए राजनैतिक छत्रछाया, साधन और खुली छूट दी।

शुरु में टीआईएफआर में कॉस्मिक-किरणों और गणित में शोधकार्य प्रारम्भ हुआ। भाभा में प्रतिभावान लोगों को पहचानने और आकर्षित करने की अद्‌भुत क्षमता थी। भाभा ने विलक्षण लोगों के ईर्द-गिर्द नए विभाग शुरु किए। उदाहरण के लिए उन्होंनें केम्ब्रिज से ओबेद सिद्दीकी को *मौलिक्यूलर बायॉलोजी ग्रूप* और स्टैनफोर्ड से गोविन्द स्वरूप को *रेडियो टेलिस्कोप* के निर्माण के लिए आमंत्रित किया।

स्वतंत्रता के बाद नेहरु ने देश के आणविक ऊर्जा कार्यक्रम की बागडोर भाभा ने हाथों में सौंपी। भाभा और नेहरु की अंतरंग मित्रता, भाभा की अपार उत्साह और ऊर्जा ने लालफीताशाही पर लगाम कसी और फिर गाड़ी तेजी से आगे बढ़ी। टीआईएफआर और भारत
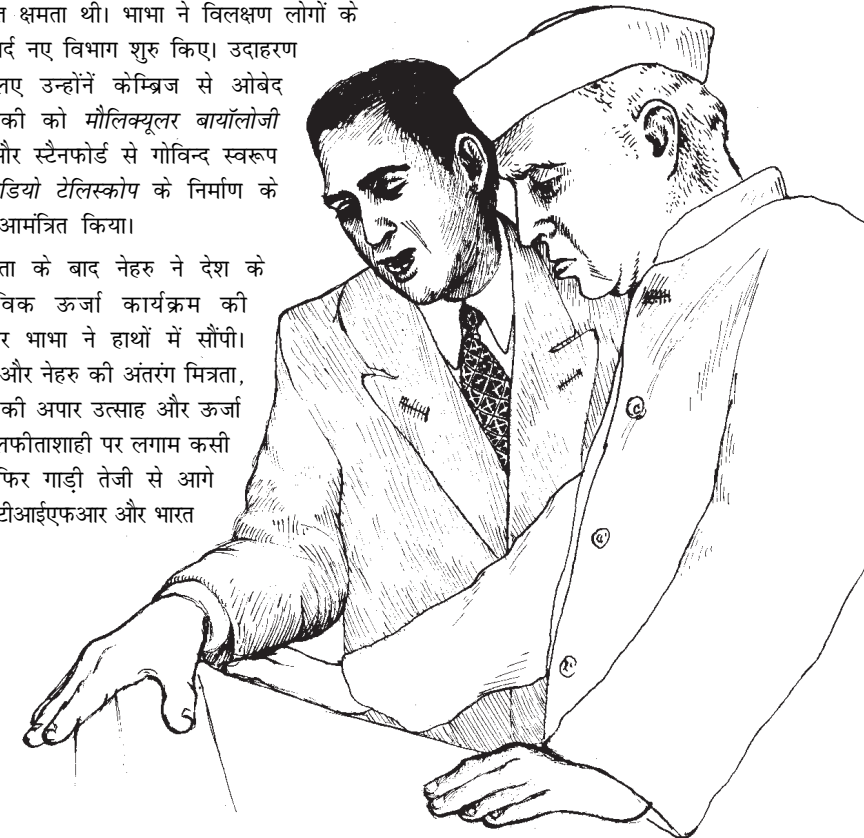
का आणविक कार्यक्रम कुछ ही सालों में फलने-फूलने लगे।

भाभा की सफल उपलब्धियों के कारण उन्हें सम्मानित करने वाले पुरुस्कारों का तांता लग गया। 1941 में उन्हें रॉयल सोसाइटी की फेलोशिप से सम्मानित किया गया। 1948 में उन्हें हॉपकिन्स पुरुस्कार मिला और देश ने 1954 में उन्हें पद्मभूषण से सम्मानित किया। उन्हें अनेकों यूनिवर्सिटीज ने डॉक्टरेट की उपाधियों से भी सुशोभित किया।

वैसे तो भाभा ट्रेनिंग से एक भौतिकशास्त्री थे परन्तु उन्हें तकनीकों का भी अच्छा ज्ञान था। उन्होंने ही भारत के अंतरिक्ष कार्यक्रम की नींव रखी जिसे बाद में बहुत कुशलता से विक्रम साराभाई और सतीश धवन ने विकसित किया। 1962 के युद्ध के बाद भाभा ने इलेक्ट्रानिक्स में भारत के पिछड़ेपन को पहचाना। भारत इलेक्ट्रानिक्स के क्षेत्र में तेजी से प्रगति करे इसकी रूपरेखा भी भाभा ने ही तैयार की।

भाभा बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न थे। वो समान रूप से गणित की जटिलताओं और शास्त्रीय संगीत की बारीकियों को समझते थे। वो एक चित्रकार थे और उन्हें जीवन की सभी सुंदर चीजों से प्रेम था - चित्रकला, संगीत, साहित्य, वास्तुशिल्प, बागवानी आदि। अपने बहुमुखी व्यक्तित्व के कारण अक्सर उनकी तुलना लियोनार्डो द विन्सी से की जाती थी। टीआईएफआर में निर्माण कार्य समाप्त होने के बाद भाभा ने प्रसिद्ध चित्रकार मकबूल फिदा हुसैन को एक भित्तीचित्र बनाने के लिए आमंत्रित किया जिसके लिए उन्हें तब पंद्रह हजार रुपए का भारी पारश्रमिक दिया गया। बहुत कम लोग इस बात से अवगत हैं कि टीआईएफआर का एक प्रतिशत बजट 'कला' खरीदने के लिए सुनिश्चित किया गया था। भाभा की खुद के बनाए तैलचित्र अभी भी टीआईएफआर और बीएआरसी की इमारतों को सुशोभित कर रहे हैं। भाभा विज्ञान और कला दोनों विश्वों के बादशाह थे। अपनी अनेकों जिम्मेदारियों के कारण उन्होंने कभी शादी नहीं की। एक बार जब एक रिर्पोटर ने उनसे इस विषय के बारे में पूछा तो उन्हें सटीक सा जवाब दिया, *'मैंने सृजनशीलता के साथ ब्याह रचाया है।'*

जब भाभा अपने कैरियर के शीर्ष पर थे तब मौंट ब्लैंक, फ्रांस में 24 जनवरी 1966 को अचानक एक हवाई दुर्घटना में उनकी मृत्यु हो गई। हवाई जहाज के सारे मुसाफिर मारे गए जिससे पूरा देश शोक में डूब गया।

युवाकाल में भाभा ने अपने पिता से कहा, 'कौन कहता है कि भारत में विज्ञान का उत्तम शोध असम्भव है?' उन्होंनें ने केवल उच्च कोटि का अनुसंधान किया पर ऐसी बेहतरीन संस्थाएं रचीं जिनमें हजारों भारतीय विश्व कोटि का शोध कर पाए।
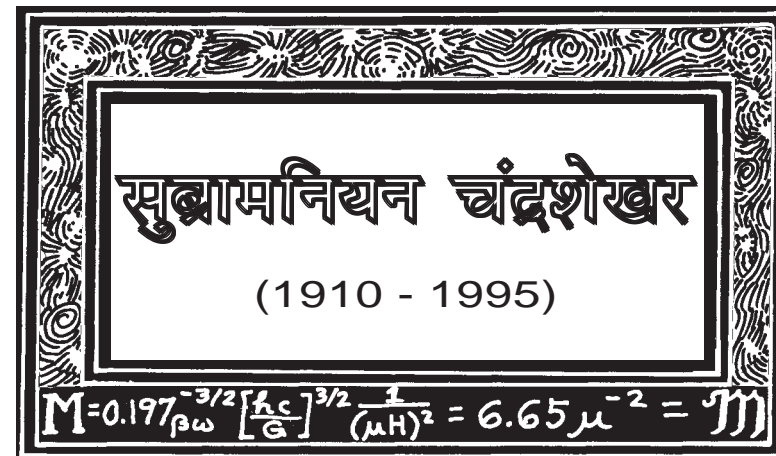
बीसवीं शताब्दी में ऐसे अनेकों वैज्ञानिक हुए जिनके शोध से प्रकृति के बारे में हमारी समझ में क्रांतिकारी परिवर्तन आया। उनमें से एक भारतीय मूल के वैज्ञानिक थे - सुब्रामनियन चंद्रशेखर। भौतिकी, खगोलशास्त्र और गणित के क्षेत्रों में उनके योगदान बेमिसाल हैं।

चंद्रशेखर का जन्म 19 अक्टूबर 1910 को लाहौर (अब पाकिस्तान का शहर) में हुआ। उनके पिता श्री सी. सुब्रामनियन अय्यर, विज्ञान के लिए नोबेल पुरुस्कार पाने वाले सर सी. वी. रमन के भाई थे। श्री अय्यर रेल्वे के लेखा-जोखा विभाग में अकाउंटेन्ट जनरल थे। संगीत में उनकी गहरी रुचि थी। ग्यारह वर्ष की आयु तक चंद्रा की पढ़ाई घर में रह कर ही हुई। उसके बाद वो मद्रास के हिन्दु हाई स्कूल में पढ़े। उन्होंने बीए प्रेजीडेंसी कॉलेज मद्रास से किया। वो शुरु से ही विलक्षण थे और ऐसा लगता था कि बड़े होकर कुछ नायाब काम करेंगे। अट्ठाहर साल की कम उम्र में उन्होंनें पहला वैज्ञानिक शोधपत्र लिखा - *काम्पटन स्कैटरिंग एंड द न्यू स्टैटिस्टिक्स* जो *प्रोसीडिन्गज ऑफ द रॉयल सोसायटी* में छपा। स्नातक की डिग्री प्राप्त करने से पहले ही *फिलौसाफिकल मैगजीन* में उनके दो अन्य शोध पत्र छप चुके थे। अपनी प्रखर बुद्धिमानी के कारण चंद्रा को केम्ब्रिज में शोधकार्य करने के लिए भारत सरकार का एक वजीफा मिला।
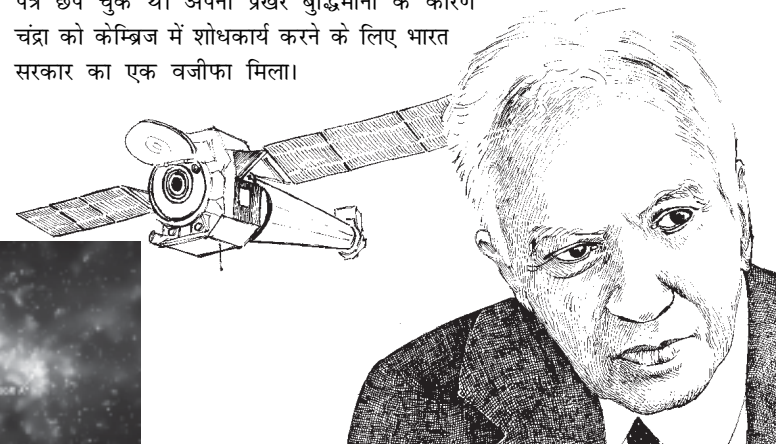
गोपी गिजवानी का रचा कार्टून
(साभार: आयुका लाइब्रेरी)

पानी के जहाज में इंग्लैंड जाते हुए चंद्रा ने एक खगोलशास्त्रीय समस्या के ऊपर गहरा मनन-चिंतन किया। किसी भी तारे (हमारा सूर्य भी एक मध्यम दर्जे का तारा है) का अंत किस प्रकार होता है? सालों के विस्तृत शोध के बाद वो इस नतीजे पर पहुंचे कि जो भी तारे 1.44 सूर्य के भार से छोटे होते हैं वो अंततः *व्हाइट डवार्फ* (सफेद बौनों) में परिवर्तित होते हैं। यह सीमा (1.44 गुना सूर्य का भार) अब खगोलशास्त्र में *चंद्रशेखर सीमा* (लिमिट) के नाम से मशहूर है।

1930-36 के बीच चंद्रा केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में इसी समस्या पर प्रोफेसर रॅाल्फ एच. फाउलर के मार्गदर्शन में शोधकार्य करते रहे। 1933 में उन्होंनें अपनी पीएचडी समाप्त की और तभी वो ट्रिनिटी कॉलेज के फेलो मनोनीत हुए। 1935 में रॉयल एस्ट्रॉनौमिकल सोसाइटी ने उन्हें अपने शोधकार्य के परिणामों की चर्चा के लिए आमंत्रित किया। यहां वो एक बड़ी मुसीबत में फंस गए। विश्व विख्यात खगोलशास्त्री सर आर्थर एडिंगटन ने चंद्रा के शोध कार्य पर न केवल तीखी टिप्पणी की परन्तु उसका मजाक भी बनाया। चंद्रा को इसकी उम्मीद न थी। उन्हें धक्का तो लगा परन्तु उन्होंनें अपने शोध की पुष्टि में जोरदार प्रमाण रखे। उसके कुछ सालों बाद नए प्रयोगों ने चंद्रा के परिणामों की पुष्टि की। एडिंगटन की जड़-बुद्धि के कारण खगोलशास्त्र का विकास लगभग दो दशकों के लिए थम गया!

जुलाई 1936 में चंद्रा ने अपनी पड़ोसी ललिता से शादी की। यह शादी उनके परिवारजनों ने तय नहीं की थी। ललिता स्नातक थीं और एक स्कूल में हेड-मिस्ट्रिस थीं।

1937 में चंद्रा ने यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो में अध्यापन शुरु किया और उन्हें यर्कस प्रयोगशाला में भेजा गया। 1944 में वो प्रोफेसर बने। 1950 में चंद्रा के यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो से साथ नजदीकी के सम्बन्ध बने। 1953 में चंद्रा और उनकी पत्नी ने अमरीकी राष्ट्रीयता ग्रहण की।

चंद्रा का अपने छात्रों से अद्‌भुत लगाव था - बिल्कुल भारतीय गुरु-शिष्य परम्परा के अनुरूप। 1946 में वो अपनी प्रयोगशाला से शिकागो तक हर सप्ताह 250 किलोमीटर की दूरी अपनी कार से तय करते केवल दो छात्रों की कक्षा लेने के लिए जाते! वो जो कर रहे थे उसके नतीजे उन्हें शायद अच्छी तरह पता थे। 1957 में इन दोनों अमरीकी-चीनी छात्रों - ली और यांग को, नोबेल पुरुस्कार मिला।

चंद्रशेखर की कार्यपद्धति एकदम अनूठी थी। उनका मानना था कि एक ही संकीर्ण क्षेत्र में बहुत साल तक कार्य करने से दिमाग गुट्ठल हो जाता है। इसलिए हर आठ-दस साल के बाद वो किसी बिल्कुल नए क्षेत्र को चुनते, उसमें अपनी संपूर्ण ऊर्जा उंड़ेलते, उसमें मास्टरी हासिल कर मौलिक योगदान करते और फिर अपने शोध पर आधारित एक अति उत्तम पुस्तक लिखते। मार्विन गोल्डबर्गर के अनुसार, *'वो पहले उसे विषय पर ढेरों शोध*

पत्र लिखते और अंत में उसी विषय पर एक मोटी सी किताब लिख डालते।' और उसके बाद वो अपना शोध किसी नए क्षेत्र में शुरु करते। वो जीवन पर्यन्त संशोधन के नए-नए क्षेत्र खोजते रहे और प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने कुछ मौलिक योगदान किया। वो नियमबद्ध तरीके से मेहनत करने के पक्ष में थे।

बहुत से महान वैज्ञानिक ऊंचे ओहदों पर आसीन होकर खुद की सफलता के शिकार बन जाते हैं। दूसरी और चंद्रा हमेशा युवा वैज्ञानिकों की संगति में खुद को पुनर्जीवित करते थे। जब समस्याएं कठिन हो जातीं और खुद दूसरी समस्याएं पैदा करतीं तब वे सबसे अधिक खुश होते। अंत में उन्हें ऐसा लगता जैसे उन समस्याओं को सुलझाना ही होगा - और फिर वो उनके हल खोजने के लिए बाध्य होते।

चंद्रा ने पहले आकाशगंगाओं के उद्‌गम - *स्टेलर डायनामिक्स* पर कार्य किया। 1940 में उन्होंनें तारों के वातावरण में विकिरण प्रसार - *रेडियेटिव ट्रांस्फर* विषय पर शोध किया। 1950 में उन्होंनें तरल में अशांति - *हाईड्रोडायनामिक इनस्टेब्लिटी* के बेहद जटिल विषय पर अनुसंधान किया। 1960 की बेहतरीन दूरबीनों ने पल्सर और क्वेजार खोजे। इन नई-नई खोजों की सैद्धांतिक व्याख्या बेहद जरूरी थी। चंद्रा ने *जनरल थ्योरी ऑफ रेलेटिविटी* के आधार पर ब्लैक-होल्स का अध्ययन किया और उनकी व्याख्या एक उत्कृष्ट पुस्तक द *मैथमैटिकल थ्योरी ऑफ ब्लैक-होल्स* में की। वो इस विषय पर अंत तक काम करते रहे। उनका देहान्त 21 अगस्त 1995 को हुआ।

वैसे चंद्रा ने अपना अधिकतम समय विदेश में गुजारा परन्तु भारत के बारे में वो बहुत सोचा करते थे। भारतीय गणितज्ञ रामानुजन एक आदर्श वैज्ञानिक के रूप में चंद्रा के रोल-मॉडल थे। उन्होंनें मद्रास में रामानुजन इंस्टिट्यूट ऑफ मैथिमैटिक्स स्थापित करने में सहयोग दिया।
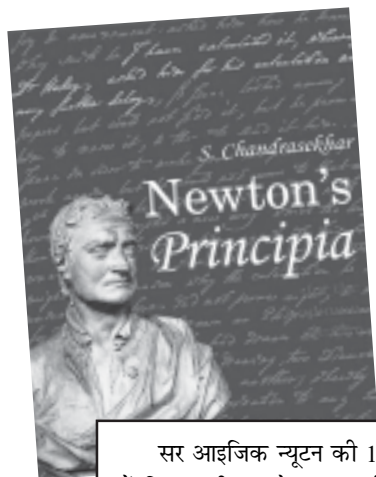
प्रसिद्ध गणितज्ञ रामानुजन की पत्नी एक गांव में अत्यन्त गरीबी में जिन्दगी बसर कर रहीं थीं। चंद्रा ने बहुत दौड़-ध ूप के बाद उन्हें एक शासकीय पेंशन दिलाई।

चंद्रा के काम के प्रति संपूर्ण समर्पण जल्द ही रंग लाया और उन्हें अनेकों पुरुस्कारों से सम्मानित किया गया। 1944 में उन्हें रॉयल सोसाइटी की फेलोशिप से सम्मानित किया गया। 1966 में उन्हें अमरीका का नैशनल साइन्स अवॉर्ड मिला। भारत सरकार ने 1966 में उन्हें पद्मविभूषण से नवाजा। 1983 में उन्हें विश्व के उच्चतम नोबेल पुरुस्कार से सम्मानित किया गया।

सर आइजिक न्यूटन की 1687 में लिखी प्रसिद्ध पुस्तक *प्रिन्सिपिया* विज्ञान के क्षेत्र में विश्व की सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक मानी जाती है। पर उसे पढ़ना और समझना आसान नहीं है। 1730 में वाल्टेयर ने उसे समझ से परे और भ्रामक करार दिया। चंद्रा ने न्यूटन *प्रिन्सिपिया* के महत्वपूर्ण नतीजों की नए सिरे से व्याख्या की। चंद्रा इस निष्कर्ष पर भी पहुंचे कि न्यूटन द्वारा सुझाए तरीके अधिक सुन्दर थे।

चंद्रा की पुस्तकें और सैकड़ों शोधपत्र सभी विज्ञान के क्षेत्र में क्लासिक बन चुके हैं। उनका शोध अत्यन्त प्रखर और सटीक तो था ही। साथ-साथ वो एक व्यक्तिगत और बहुत नायाब शैली में लिखते थे।

चंद्रा की साहित्य और संगीत में गहरी रुचि थी और उन्होंनें महान रूसी साहित्यकारों - दोस्तोविस्की, तुर्गनेव, तोल्सतोय और चेकोव की सभी कृतियां पढ़ी थीं। थॉमस हार्डी, इब्सिन, बर्नाड शॉ और शेक्सपियर भी उन्हें बेहद प्रिय थे। वो अक्सर कला और विज्ञान के बीच अंतर्सम्बंधों पर भाषण देते थे जिनका विस्तृत रूप उनकी पुस्तक *ट्रूथ और ब्यूटी - एस्थिटिक्स एंड मोटिवेशन इन साइन्स* में पढ़ा जा सकता है।

सम्भवत: कुछ विलक्षण वैज्ञानिकों के काम का समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा होगा परन्तु चंद्रा की छवि उनमें बिल्कुल अलग है - उनका पूरा जीवन विज्ञान को समर्पित था। उनके आदर और सम्मान में नासा ने 1999 में दुनिया की सबसे बेहतरीन एक्स-रे वेधशाला का नाम चंद्रा रखकर उनके नाम और काम को सदा के लिए अमर कर दिया।

विक्रम साराभाई

(1912 - 1971)

युवा विक्रम साराभाई को साइकिल के करतब दिखाने का बेहद शौक था। साइकिल को तेजी से चलाने के बाद वो अपने दोनों हाथ सीने पर रखते और दोनों पैर हैन्डल पर। अगर सड़क सीधी होती तो वो अपनी आंखें बन्द करके साइकिल को नाक की सीध में दौड़ने देते। इस दौरान घर के सारे नौकर उनके पीछे-पीछे दौड़ते और उनसे साइकिल रोकने की विनती करते। बचपन में बहादुरी करतब दिखाने वाला बालक बड़े होकर कॉस्मिक-किरणों पर 80 शोधपत्र लिखने वाला वैज्ञानिक बनेगा इसकी कल्पना करना कुछ मुश्किल है।

विक्रम का बचपना अनूठी परिस्थितियों में बीता। प्रतिभा के बीज उनके बचपन के संस्कारों में मौजूद थे। विक्रम साराभाई एक धनी व्यापारी परिवार में जन्मे। अहमदाबाद की मशहूर कपड़े की कैलिको मिल उनके परिवार की थी। 1920 के दशक में पानी के जहाज से भारत लौटते हुए विक्रम के पिता अम्बालाल और मां सरला ने शिक्षा पर मांटेसरी की क्रांतिकारी पुस्तक पढ़ी। पुस्तक का उन पर जादुई प्रभाव पड़ा कि उन्होंनें अपने बच्चों के लिए तुरन्त मांटेसरी पद्धति पर आधारित एक स्कूल शुरु किया! उनके आठों बच्चे परिवार के 21-एकड़ में स्थित इस निजी प्रायोगिक स्कूल में पढ़े। बच्चों को भारतीय और ब्रिटिश शिक्षकों दोनों ने पढ़ाया। जब विक्रम ने कुछ ठोका-पीटी में रुचि दिखाई तो उनके पिता ने उनके लिए तुरन्त सुपरवाइजर से साथ एक वर्कशाप का प्रबंध कर दिया! स्कूल में बच्चों को अपनी रुचि के अनुसार अनेकों चीजें सीखने की छूट थी। साथ में उन्हें बड़े-बड़े लोगों - रबीन्द्रनाथ ठाकुर, जवाहरलाल नेहरु और रुकमणि अरुनडेल जैसे दिग्गजों से भी मिलने का मौका मिला।

साराभाई परिवार धनी होने के साथ-साथ महात्मा गांधी के भी बहुत करीब था। उन्हें अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों का गहरा बोध था। विक्रम की बुआ अनुसुइया ने शहर में कपड़ा मिल मजदूरों की पहली ट्रेड-यूनियन स्थापित की। उनकी बहन मृदुला, गांधीजी की विचारधारा से बहुत प्रभावित थीं। मृदुला ने देश के स्वतंत्रता आंदोलन में सक्रिय भाग लिया और वो कई बार जेल गयीं।

स्कूल की पढ़ाई समाप्त करने के बाद विक्रम ने अहमदाबाद के गुजरात कॉलेज में कुछ समय पढ़ाई की परन्तु बीएससी पूरा करने से पहले ही वो केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी चले गए और उन्होंने सेन्ट जॉन्स कॉलेज में दाखिला लिया। 1939 में उन्होंने प्राकृतिक विज्ञान में ट्राइपौस हासिल किया। उसी समय द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ जिसकी वजह से उन्हें भारत वापस लौटना पड़ा। यहां वो इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ साइन्स, बैंगलोर में सर सी वी रमन के मार्गदर्शन में कॉस्मिक-किरणों पर शोधकार्य करने लगे।

कॉस्मिक-किरणों पर शोध के दौरान विक्रम का ध्यान अंतरिक्ष की ओर आकर्षित हुआ। यह रुचि काफी समय तक सुप्तावस्था में रही पर मौका मिलते ही उन्होंनें भारत के अंतरिक्ष कार्यक्रम के विकास में एक प्रमुख भूमिका अदा की। बैंगलोर में विक्रम की भेंट जानी-मानी नृत्यांगना मृणालिनी स्वामिनाथन से हुई जिनके साथ उनकी शादी हुई। साराभाई दम्पत्ति की दो संतानें हुयीं - बेटा कार्तिकेय और बेटी मल्लिका।

1945 में महायुद्ध की समाप्ति के बाद साराभाई केम्ब्रिज वापस लौटे। यहां उन्होंनें प्रोफेसर ई एस शाईर के मार्गदर्शन में अपनी डाक्ट्रेट पूरी की। विषय था - *कॉस्मिक-रे इंवेस्टिगेशन्स इन ट्रॉपिकल लैटिट्यूडस*। उनके शोधकार्य में आणविक विखंडन का भी उल्लेख था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के आदर्शवादी माहौल में विक्रम साराभाई ने कई प्रसिद्ध संस्थाएं स्थापित कीं - फिजिकल रिसर्च लैबोरेटरी, दर्पणा नृत्य अकादमी जिसे उन्होंनें अपनी पत्नी मृणालिनी के साथ स्थापित किया, द अहमदाबाद इंडस्ट्रीज रिसर्च एसोसिएशन। उन्होंने भारत की पहली टेक्सटाइल कोआपरेटिव, भारत की पहली मार्केट रिसर्च संस्था - ऑपरेशन्स रिसर्च ग्रुप, इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ मैनेजमैन्ट और नैशनल इंस्टिट्यूट ऑफ डिजाइन भी स्थापित कीं। यह भिन्न गतिविधियां साराभाई की अनेक रुचियों और बहुमुखी प्रतिभा की द्योतक हैं। वो सभी प्रकल्प बहुत सूझ-बूझ से रचते और उनमें वैज्ञानिक पद्धति, आर्थिक योजना और राष्ट्रीय हित साफ झलकते।

सीखने के दौरान रटने से उन्हें बेहद चिढ़ थी। इसलिए उन्होंने *ग्रुप फॉर इंप्रूवमेन्ट ऑफ साइन्स एडयुकेशन* का गठन किया। बाद में यह ग्रुप नेहरु फाउन्डेशन फॉर डेवलपमेन्ट का एक अंग बना। उन्होंने अहमदाबाद में देश का पहला सामुदायिक विज्ञान केन्द्र स्थापित किया जिसका उद्घाटन 1968 में सर सी वी रमन ने *वॉय इज द स्कॉय ब्लू?* के लोकप्रिय भाषण से किया। यह सोचकर आश्चर्य होता है कि साराभाई इतने कम समय में इतनी ऊर्जा के साथ इतना अधिक कार्य कैसे कर पाए।
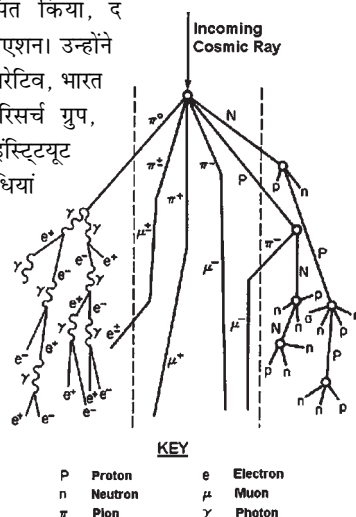
उनकी प्रखर प्रतिभा का देर तक छिपे रहना मुश्किल था। 1962 प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरु ने देश के अंतरिक्ष कार्यक्रम में शोध आयोजन के लिए विक्रम साराभाई को आमंत्रित किया। उस समय विश्व के शक्तिशाली देश अंतरिक्ष शोध को सैन्य-शक्ति बढ़ाने और नियंत्रण के लिए उपयोग कर रहे थे। परन्तु साराभाई की दृष्टि उनसे बिल्कुल भिन्न थी। उन्होंनें भारत के लिए एक अनूठे अंतरिक्ष कार्यक्रम की कल्पना की। वो उपग्रहों के माध्यम से दूर-दराज स्थित गांवों में शिक्षा और विकास का संदेश पहुंचाना चाहते थे। वो उपग्रहों के माध्यम से मौसम का पूर्वानुमान और खनिजों की तलाश करना चाहते थे।

साराभाई उच्च टेक्नालोजी को देश के करोड़ों लोगों के हित में उपयोग करना चाहते थे। साथ में वो संस्थाओं में एक वैज्ञानिक कार्य पद्धति भी स्थापित करना चाहते थे। वो चाहते थे कि पश्चिम के देशों जैसे भारत को बहुत लम्बे और कठिन विकास के दौर से नहीं गुजरना पड़े। उनका विश्वास था कि नई टेक्नालोजी द्वारा भारत एक 'छलांग' में पिछड़ेपन की खाई को पाट पाएगा।

सारा भाई ने *सैटालॉइट इंस्ट्रक्शनल टेलिविजन एक्सपेरिमेन्ट* (साइट) की नींव रखी। इसके माध्यम से दूर-सुदूर स्थित गांवों के स्कूलों में उपग्रहों द्वारा शैक्षणिक कार्यक्रम पहुंचाए गए। उन्होंनें केरल में चुम्बकीय भू-मध्य रेखा के पास एक रॉकेट लांचिंग स्टेशन की स्थापना की। बाद में विस्तार के बाद यह *स्पेस साइन्स और टेक्नालोजी सेन्टर* बना (आज यह केन्द्र *विक्रम साराभाई स्पेस रिसर्च सेन्टर* के नाम से जाना जाता है)। उन्होंनें आंध्र प्रदेश के श्रीहरिकोटा में एक और रॉकेट स्टेशन स्थापित किया और अहमदाबाद में *सैटालाइट कम्यूनिकेशन सेन्टर* की स्थापना की।

भाभा की आकस्मिक मृत्यु के बाद साराभाई ऐंटामिक इनर्जी कमिशन के चेयरमैन बने। गांधीजी से प्रभावित होने के कारण साराभाई का आणविक हथियारों के प्रति रवैया कुछ अलग था। अणु आयोग के कट्टरपंथी साराभाई के नजरिए से असहमत थे और उनके कड़े निंदक थे। साराभाई ने *पुगवाश कानफ्रेन्स* में भाग लिया और आणविक हथियारों पर लगाम और आणविक ऊर्जा के शांतिपूण उपयोग की पेशकश की।

अगर भारत कम-लागत के उपग्रह बनाने और चंद्रमा पर चंद्रयान भेजने में सफल हुआ है तो इसका बहुत कुछ श्रेय विक्रम साराभाई की दूरदर्शिता और उनके द्वारा रची संस्थाओं को जाता है। उन्होंने इस कार्यक्रम के लिए देश के सबसे अच्छे वैज्ञानिकों को चुना और उन्हें प्रेरित किया। इनमें चोटी के वैज्ञानिक ए.पी.जे. कलाम, ई.वी. चिटनिस, वसंत गोवारिकर, प्रमोद काले, यू.आर. राव और कस्तूरीरंगन शामिल हैं।

कम समय में ही साराभाई ने देश के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किए। इसके लिए उन्हें कई पुरुस्कारों से अलंकृत किया गया। 1962 में उन्हें फिजिक्स के लिए शांतिस्वरुप भटनागर पुरुस्कार मिला, 1966 में पद्मभूषण और 1972 में मरणोपरांत उन्हें पद्मविभूषण से सम्मानित किया गया।

विक्रम साराभाई ने काम की लगन में दिन-रात एक किया। एक बार उन्होंने ए.पी.जे. कलाम को रात साढ़े तीन बजे मिलने का समय दिया! शायद उन्हें अपने शरीर की नश्वरता का कुछ पूर्वानुमान था इसलिए उन्होंनें बेहद श्रम और लगन से जल्द ही मंजिल तक पहुंचने का प्रयास किया। कठिन जीवनशैली के कारण साराभाई का दिल के दौरे से 30 दिसम्बर 1971 को देहान्त हो गया। एक खानदानी और समृद्ध परिवार में पैदा हुए साराभाई अगर चाहते तो एक ऐशो-आराम की जिन्दगी बसर कर सकते थे परन्तु वो देश की सेवा करते-करते अल्पायु में ही चल बसे। साराभाई ने भारत को अंतरिक्ष विज्ञान के क्षेत्र में दुनिया के अग्रणी देशों की कतार में ला खड़ा किया। देश इसके लिए उनका सदैव कृतज्ञ रहेगा।

1974 में चंद्रमा पर एक क्रेटर को विक्रम साराभाई का नाम दिया गया। सिडनी, आस्ट्रेलिया स्थित इंटरनेशनल एस्ट्रोनामिकल यूनियन ने *सी ऑफ सिरेनिटी* में स्थित क्रेटर *बेसल* का नाम बदल कर *साराभाई क्रेटर* रख दिया।

कमला सोहोनी
(1912 - 1998)

कमला सोहोनी विज्ञान के विषय में डॉक्ट्रेट की डिग्री हासिल करने वाली पहली भारतीय महिला थीं। उन्होंनें गरीबों के नियमित आहार के तीन खाद्यानों का वैज्ञानिक विश्लेक्षण कर उनके पौष्टिक गुण स्थापित किए।

कमला का जन्म 1912 में हुआ। उनके पिता नारायणराव भागवत और चाचा माधवराव दोनों प्रसिद्ध रासायन शास्त्री थे। वो बैंगलोर स्थित प्रख्यात इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ साइन्स के पहले स्नातकों में से थे। कमला ने बम्बई यूनिवर्सिटी से भौतिकी और रासायनशास्त्र विषयों में बीएससी पास की। क्योंकि वो यूनिवर्सिटी की टॉपर थीं इसलिए उन्हें बंगलोर की संस्था में दाखिला मिलने की पूरी उम्मीद थी। पर असल में यह बड़ा मुश्किल काम था।
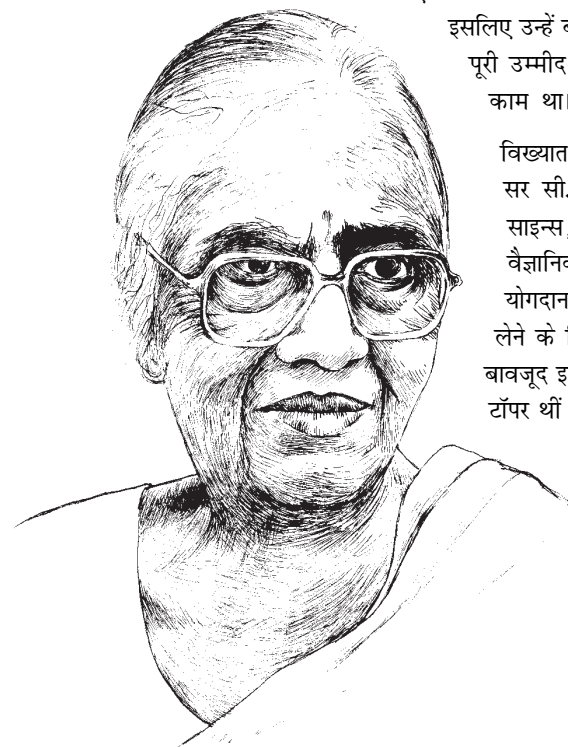
विख्यात वैज्ञानिक और नोबेल पुरुस्कार विजेता सर सी.वी. रमन ने इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ साइन्स, रमन रिसर्च इंस्टिट्यूट और देश में वैज्ञानिक शोधग्रंथों की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान दिया था। पर रमन महिला छात्रों को लेने के बिल्कुल विरुद्ध थे। इसलिए 1933 में, बावजूद इसके कि कमला अपनी यूनिवर्सिटी की टॉपर थीं उनके दाखिले को रद्द कर दिया गया। पर कमला भी कोई कम न थीं। कमला ने रमन का मुंह-दर-मुंह सामना किया और फिर वो मान गए।

कमला के सत्याग्रह के बाद उन्हें दाखिला तो मिला – पर एक शर्त पर – कि उनकी उपस्थिति से मर्द शोधकर्ताओं को कोई विघ्न न पहुंचे! कमला उससे बहुत दुखी हुयीं। परन्तु इस शर्त को स्वीकार करने के अलावा उनके पास और कोई चारा भी नहीं था।

कमला ने बाद मे कहा: *'वैसे रमन एक महान वैज्ञानिक थे परन्तु वो बहुत संकीर्ण विचारों के थे। उन्होंने महिला होने के नाते मेरे साथ जो सलूक किया उसे मैं कभी भूल नहीं सकती। उसके बाद भी रमन ने मुझे एक नियमित छात्र जैसे दाखिला नहीं दिया। मेरे लिए यह गहरे अपमान की बात थी। उस समय महिलाओं के प्रति लोगों का रवइया बहुत गलत था। अगर एक नोबेल पुरुस्कार विजेता इस प्रकार का बर्ताव करे तो फिर अन्य लोगों से और क्या उम्मीद की जा सकती है?'*

एक साल के बाद रमन कमला की निष्ठा से प्रसन्न हुए और फिर उन्होंनें कमला को नियमित छात्र जैसे बायोकेमस्ट्री विभाग में शोध करने की अनुमति दी। उसके बाद से रमन ने संस्था में महिला छात्रों को दाखिला देना शुरु कर दिया। यह कमला के लिए एक बड़ी जीत थी। कमला के संघर्षों की वजह से बहुत-सी अन्य महिला छात्राओं के लिए वैज्ञानिक शोध का रास्ता प्रशस्त हुआ।

आईआईएससी में कमला ने अपने टीचर श्री श्रीनिवास्या के मार्गदर्शन में बहुत परिश्रम किया। अपने उत्साही शिक्षक की प्रेरणा वो कभी नहीं भूलीं। उन्होंनें कमला को बॉयोकेमिस्ट्री की श्रेष्ठ पुस्तकें पढ़ने और उनके लेखकों से पत्र व्यवहार करने के लिए प्रोत्साहित किया। कमला ने दूध और दालों में प्रोटीन पर काम किया जिससे कुपोषित भारत को बहुत लाभ हुआ। 1936 में वो दालों से मिलने वाले प्रोटीन्स पर शोधकार्य करने वाली पहली स्नातक थीं। इस शोधकार्य के लिए बम्बई यूनिवर्सिटी ने उन्हें एमएससी की डिग्री प्रदान की। उसके बाद वो केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी गयीं जहां पहले उन्होंने डॉ. डेरिक रिक्टर की प्रयोगशाला में काम किया। रिक्टर ने कमला को दिन में काम करने के लिए एक लम्बी मेज दी। रात को रिक्टर प्रयोगशाला में उसी मेज पर सो जाते थे।

डॉ. रिक्टर के तबादले के बाद कमला प्लांट-टिश्यू के विषय पर डॉ. रॉबिन हिल के मार्गदर्शन में काम करती रहीं। आलू पर शोध करते समय उन्होंने पाया कि प्रत्येक पौधे की प्लांट-टिश्यू की कोशिका में 'साइटोक्रोम-सी' नाम का एक एन्जाइम होता है जो पौधे की कोशिकाओं के आक्सीडेशन के लिए जिम्मेदार होता है। यह एक मौलिक खोज थी जो सभी पौधों पर लागू होती थी।

दिग्गज वैज्ञानिकों के साथ काम करने का उनका सपना तब पूरा हुआ जब उन्हें एक साथ

दो वजीफे मिले। पहला था केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी की सर विलियम डॉन इंस्टिट्यूट ऑफ बॉयोकेमिस्ट्री में नोबेल पुरुस्कार विजेता प्रोफेसर फ्रेडरिक हॉपकिन्स के साथ काम करने का मौका। यहां कमला ने जैविक ऑक्सीडेशन और रिडक्शन पर काम किया। दूसरा वजीफा एक अमरीकी छात्रवृत्ति थी जिसके अंतर्गत कमला यूरोप की यात्रा कर वहां के जाने-माने वैज्ञानिकों से मिल सकती थीं।

कमला ने अपने शोध में प्लांट-टिश्यू के सांस लेने की प्रक्रिया में 'साईटोक्रोम-सी' के प्रभाव की व्याख्या की। केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में यही उनकी पीएचडी की थीसिस थी। उन्हें अपनी 40 पृष्ठों की पीएचडी थीसिस लिखने में मात्र 14 महीने का अल्प समय लगा! कमला सोहोनी विज्ञान के विषय में पीएचडी पाने वाली पहली भारतीय महिला थीं!

1939 में वो भारत लौटीं और लेडी हार्डिन्ग कॉलेज, नई दिल्ली में नये स्थापित बॉयोकेमिस्ट्री विभाग की प्रमुख बनीं। बाद में वो कुन्नूर स्थित न्यूट्रिशन रिसर्च लैबोरेट्री की उप-निदेशक बनीं। यहां उन्होंनें विटामिनों के प्रभाव पर शोध किया। 1947 में उनका विवाह श्री एम.वी. सोहोनी से हुआ जिसके बाद वो बम्बई चली गयीं।

बम्बई में कमला ने रॉयल इंस्टिट्यूट ऑफ साइन्स के बॉयोकेमिस्ट्री विभाग में काम करना शुरु किया। उन्होंनें जनहित के विषय चुने और अपने छात्रों को उन पर शोध करने के लिए प्रेरित किया। उनके कई छात्रों ने बाद में बहुत नाम कमाया और उच्च दर्जे का वैज्ञानिक शोध किया। कमला ने अपने छात्रों के साथ मिलकर ग्रामीण गरीब लोगों द्वारा खाए जाने वाले तीन खाद्यांनों का सविस्तार विश्लेक्षण किया और उनमें पाए जाने वाले पोषण तत्वों की सूची तैयार की। इस शोधकार्य में दालें, ट्रिपसिन इनहिबिटर्स और भारतीय दालों की पाचन क्षमता को कम करने वाले कुछ अन्य कम्पाउंड भी शामिल थे। कमला ने नीरा, ताड़ का गुड़, ताड़ का शीरा, और धन-आटा (धान को पॉलिश करने के दौरान बना आटा) जैसे खाद्यांनों पर भी शोध किया। क्योंकि यह चीजें समाज के सबसे गरीब लोग खाते थे इसलिए उनके शोध से सबसे कुपोषित लोगों को लाभ

नीरा पेय को ताड़ के पेड़ों से निकाला जाता है। यह सफेद पेय मीठे शर्बत जैसा होता है। यह पौष्टिक पेय भारत में बहुत लोकप्रिय है।

पहुंचा। भारत के पहले राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के सुझाव पर कमला ने नीरा के ऊपर शोधकार्य प्रारम्भ किया।

कमला ने बम्बई की *आरे दुग्ध संस्था* को उनके उत्पादों की गुणवत्ता बढ़ाने के सुझाव दिए। नीरा, ताड़ के पेड़ से मिलने वाला एक पेय है। नीरा पीने में मीठा, स्वादिष्ट और बहुत पौष्टिक होता है। कुपोषित आदिवासी महिलाओं और बच्चों को जब नियमित रूप से नीरा पिलाया गया तो उनका स्वास्थ्य बेहतर हुआ। नीरा के पौष्टिक गुणों पर शोधकार्य के लिए कमला सोहोनी को राष्ट्रपति ने सम्मानित किया।

कमला *कन्जयूमर सोसाइटी ऑफ इंडिया* (सीजीएसआई) की सक्रिय सदस्य थीं और वहां उन्होंनें बहुत लगन से काम किया। 1982-83 में वो सीजीएसआई की अध्यक्ष बनीं। उन्होंने इस संस्था के मुख्यपत्र *कीमत* के लिए अनेकों लेख लिखे।

एक ओर कमला अपने शोधकार्य से खुश थीं परन्तु दूसरी ओर इंस्टि्टयूट की राजनीति और लोगों के राग-द्वेष से खिन्न भी थीं। वरिष्ठता के मापदण्डों को ताक पर रखकर उन्हें इंस्टि्टयूट का निदेशक पद से लम्बे अर्से तक वंचित रखा गया। अपनी सफलता का श्रेय उन्होंनें अपने शिक्षक श्रीनिवास्या और पति को दिया।

अंत में जब वो रॉयल इंस्टि्टयूट ऑफ साइन्स की निदेशक बनीं तब केम्ब्रिज में उनके पहले गॉइड डॉ. डेरिक रिक्टर ने टिप्पणी की, *'इतनी बड़ी वैज्ञानिक संस्था की पहली महिला निदेशक बन कर कमला ने दुनिया में नया इतिहास रचा है।'*

कमला सोहोनी का जीवन हमें भारतीय महिला वैज्ञानिकों के प्रारम्भिक संघर्षों की याद दिलाता है। तेज बुद्धि और पारिवारिक समर्थन के बावजूद महिलाओं द्वारा पुरुष-प्रधान वैज्ञानिक क्षेत्र में प्रवेश पाना मुश्किल था। जब डॉ. सत्यवती - इंडियन काउंसिल ऑफ मेडिकल रिसर्च की पहली डायरेक्टर जनरल ने कमला सोहोनी की संर्घषमय जीवनगाथा के बारे में सुना तो उन्होंनें कुछ करने की ठानी। उन्होंनें 84 वर्षीय कमला को नई दिल्ली आमंत्रित किया और उनके सम्मान में एक बड़ा समारोह आयोजित किया। 1998 में, 86 वर्ष की आयु में कमला सोहोनी का देहान्त हुआ।

लौरी बेकर
(1917 - 2007)

'मैं कभी सामाजिक वर्गों - उच्च-आय, मध्यम-आय या कम-आय, आदिवासी या मछुआरों के लिए घर नहीं बनाता हूं। मैं केवल मैथ्यू, भास्करन, मुनीर या शंकरन जैसे व्यक्तियों के लिए घर बनाता हूं।'

- लौरी बेकर

लौरी बेकर एक विलक्षण वास्तुशिल्पी (आर्किटेक्ट) थे जिन्होंनें हजारों गरीबों की जिन्दगी को छुआ।

उनका जन्म इंग्लैंड के कपड़ा-मिल वाले शहर बर्मिन्घम में हुआ। क्वेकर समुदाय के होने के नाते उन्हें जंग से नफरत थी। द्वितीय महायुद्ध में वो चीन गए और वहां कई सालों तक एक एंबुलेन्स के साथ जख्मी सैनिकों की सेवा करते रहे। इंग्लैंड वापस जाते वक्त उन्हें कुछ महीने बम्बई में बिताने पड़े जहां कुछ क्वेकर मित्र उन्होंने एक दिन गांधीजी से मिलाने ले गए। गांधीजी ने जब बेकर की हाथ से बनाई सैन्डिल देखीं तो उन्हें बहुत अचरज हुआ। देश को बेकर की सेवाओं की सख्त जरूरत थी। इसलिए गांधीजी ने बेकर से स्थाई रूप से भारत वापस लौटने का आग्रह किया।
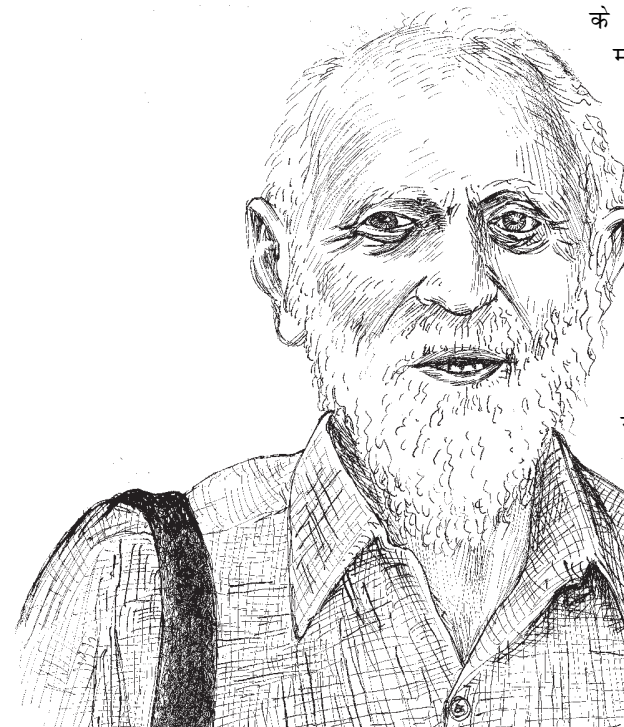
पैसों के असली मूल्य का सबक बेकर ने बचपन में ही सीख लिया था। छुटपन में वो अपने जेबखर्च से स्थानीय बेकरी से बिस्किट खरीदते थे। बेकरी टूटे बिस्किट सस्ते में बेंचती। इसलिए बेकर उतने ही पैसों में साबुत बिस्किटों की बजाए दुगनी मात्रा में टूटे बिस्किट खरीदते। टूटे बिस्किट खाने में साबुत बिस्किट जितने ही स्वादिष्ट होते! कम पैसों में अधिक मूल्य का सबक बेकर जीवन भर नहीं भूले!

गांधीजी की प्रेरणा से बेकर कुछ महीनों बाद भारत लौटे और फिर कुष्ठ-रोगियों के उपचार के लिए अस्पताल डिजाइन करने लगे। 1948 में उनकी शादी डॉक्टर एलिजाबेथ जेकब से हुई जो वेल्लोर के प्रसिद्ध क्रिस्टियन मेडिकल कॉलेज में पढ़ी थीं। उसके बाद यह दम्पत्ति पिथौड़ागढ़, उत्तर प्रदेश के एक दूर-सुदूर गांव में जाकर बसा और वहां उन्होंनें एक छोटा अस्पताल शुरु किया। एलिजाबेथ अस्पताल में एक मात्र डॉक्टर थीं और बाकी नर्स, बावर्ची, सफाई आदि का सारा काम बेकर करते! जब अमरीकी शिक्षाविद् वेल्टी फिशर ने लखनऊ में *साक्षरता भवन* स्थापित करने की योजना बनायी तो लौरी बेकर ही एकमात्र ऐसी आर्किटेक्ट थे जो उनके सपनों को एक ब्लूप्रिन्ट में उतार पाए। बेकर ने मानसिक रोगियों के उपचार के लिए के लिए लखनऊ में *नूर मंजिल* अस्पताल का भी डिजाइन किया।

साठ के दशक के अंत में बेकर और उनकी पत्नी केरल वापस चले गए और त्रिवैन्द्रम में बस गए। बेकर ने 50 साल की उम्र के बाद ही फुल-टाइम आर्कीटेक्चर डिजाइन का काम शुरु किया! बेकर इमारतें डिजाइन तो करते ही थे साथ में वो उनका निर्माण भी करते थे। भारतीय परम्परा के अनुकूल वो एक डिजाइनर-मिस्त्री थे। बेकर को कभी ऑफिस या फिर किसी सहायक की जरूरत नहीं पड़ी। वो अक्सर पुराने कागज के टुकड़ों पर घरों के चित्र बनाते और निर्माण स्थल पर ही डिजाइन करते। जहां एक ओर तमाम आर्किटेक्ट केवल कागज पर रेखाएं बना पाते हैं वहीं बेकर एक कुशल मिस्त्री और बढ़ई थे। उनके सभी प्रोजेक्टस का कार्यभार कोई इंजीनियर नहीं बल्कि मिस्त्रियों की टीम सम्भालती थी। ठेकेदारों और दलालों को दरकिनार कर खुद निर्माण करने से काम सस्ते में होता और मजदूरों को वाजिब मजदूरी मिलती। बेकर पर्यावरण के प्रति बहुत संवेदनशील थे। बहुत अधिक ऊर्जा से बने स्टील और सीमेन्ट जैसे सामान का वो बहुत कम उपयोग करते थे। वो हमेशा कहते, *'सीमेन्ट मुझ से उम्र में छोटा है।'* इस बात में सच्चाई थी क्योंकि पहले महायुद्ध के बाद ही सीमेन्ट बड़े-पैमाने पर इस्तेमाल होना शुरु हुआ।

COB is good for anything except height. It is particularly good for curved or round walls.
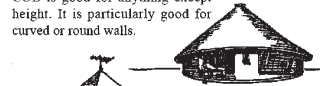
PISE or RAMMED EARTH is strong and ideal for solid, squat single storey houses.

ADOBE or SUN DRIED BRICKS can easily cope with two storey houses.

PRESSED BRICKS are smooth and very strong and can build three storeys.

WATTLE & DAUB is elegant and fine for seismic zones and can be done wherever there is cane or bamboo.

Both parties blamed each other.....

हिमालय में अपने लम्बे प्रवास के दौरान बेकर को परम्परागत भारतीय आर्किटेक्चर की बारीकियां समझ में आयीं। यहां हजारों सालों के व्यावहारिक शोध के बाद लोगों ने कम-ऊर्जा के मकान बनाने के तरीकों में दक्षता हासिल की थी। पहाड़ पर लोग स्थानीय पत्थरों और लकड़ी से मकान बनाते। सब सामान घर से सौ-दो सौ गज की दूरी पर ही मिल जाते। गांधीजी के अनुसार घर बनाने का सारा सामान निर्माण-स्थल के पांच मील दायरे से ही आना चाहिए। बेकर को गांधीजी यह दलील एकदम उचित लगी।

अक्सर बेकर अपनी ही सिद्धांतों का पूरी तरह पालन नहीं कर पाते थे परन्तु वो इस दिशा में निरन्तर प्रयास करते रहते थे। वो सीमेन्ट और कांच दोनों के उपयोग के खिलाफ थे - क्योंकि इनके बनाने में बहुत ऊर्जा व्यय होती है। परन्तु वो अक्सर अपने बनाए घरों में कांच की रंगीन बोतलों को दीवारों में धंसा देते। इससे कम-खर्च में रंग-बिरंगी रोशनी घर में आती। ईंटों से बेकर को विशेष प्रेम था। वो ईंटों के रैट-ट्रैप बन्धन से एक ओर सीलन और ऊष्मा निरोधी दीवार बांधते और दूसरी ओर 25 प्रतिशत ईंटों की बचत भी करते। ईंटों की बनी जालियां घर में ठंडी बयार लातीं तो छत में बने झरोखे अंदर की गर्म हवा को बाहर ढंकेलते। वो ईंटों को आपस में जोड़ने के लिए चूने और रेत का गारा उपयोग करते। केरल में चूने को समुद्र की सीपियों से निर्माण स्थल पर ही बनाना सम्भव था। बेकर ने स्टील की जगह बांस का उपयोग कर अस्सी प्रतिशत कीमत में कटौती की। वैसे निर्माण के लिए बेकर की सबसे प्रिय वस्तु थी मिट्टी - जिसमें शून्य ईंधन लगता और जो आसपास बिल्कुल मुफ्त में मिल जाती। भारत में अस्सी प्रतिशत घर मिट्टी के ही बने हैं। वो सैकड़ों सालों से खड़े हैं और हर प्रकार के मौसम की मार झेल चुके हैं। मिट्टी की एक और खासियत है - उसे बार-बार इस्तेमाल किया जा सकता है। आप पुराने मिट्टी के मकान को ढहा कर उसमें पानी मिलाकर तुरन्त नया मकान बना सकते हैं। कांच और स्टील से ऐसा करना सम्भव नहीं है।

बेकर ने हजारों सालों की जांची-परखी निर्माण सामग्री, कुशलताओं और डिजाइनों का उपयोग कर लोगों के लिए आरामदेह घर और ऑफिस बनाए। इनमें बिजली, पानी और कई बार कार के गैरिज की सुविधा तक थी। बेकर का मानना था कि *'आर्किटेक्चर एक महत्वपूर्ण विषय है और उसे सिर्फ आर्किटेक्टस के भरोसे नहीं छोड़ा जाना चाहिए।'* उन्होंनें एक-दर्जन से अधिक सचित्र, कम-कीमत के भवन निर्माण पर पुस्तकें लिखीं। घर - *कीमत कम कैसे करें,*
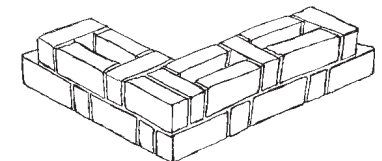
रैट-ट्रैप बंधन से 25 प्रतिशत ईंटें बचती हैं और हवा की तह इमारत की सुरक्षा करती है।

लौरी अपनी पत्नी एलिजाबेथ के साथ।

कचरा (रबिश) और *मिट्टी* जैसी पुस्तकों के लिए उन्होंनें खुद चित्र बनाए। उनकी कई पुस्तकों का कई भारतीय भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। उनकी दो पुस्तकें *रूरल कम्यूनिटी बिल्डिन्गज* और *कॉस्ट रिडक्शन फॉर प्राइमरी स्कूल बिल्डिन्गज* का प्रकाशन बेकर की 80वीं वर्षगांठ पर हुआ। बेकर द्वारा डिजाइन की गई दो उल्लेखनीय इमारतें हैं - *सेन्टर फॉर डेवलपमेन्ट स्टडीज* और त्रिवैन्द्रम के बस स्टेशन के पास स्थित बहुत प्यारा एक *काफी हाउस*।

चीजों का दुबारा इस्तेमाल करना बेकर की प्रकृति का एक अंग था। वो गुसलखाने बनाते समय कांच और टाइल्स के टूटे टुकड़ों का उपयोग करते। वो छत की ढलाई करते समय हरेक एक-दो फीट की दूरी पर टूटी हुई टाइल्स को धंसा देते। बेकर के इस तरीके को अब व्यापक रूप में अपनाया जा रहा है। इस प्रकार टूटी हुई टाइल्स के उपयोग से छत ढलाई की कीमत 30 प्रतिशत कम हो जाती है। वो चाहते थे कि उनकी बनाई इमारतें केरल के लहलहाते नारियल के पेड़ों की ऊंचाई से सदैव नीची रहें।

बेकर केवल एक आर्कीटेक्ट नहीं थे। उन्होंनें जिन्दगी को बहुत करीबी से देखा और उसका भरपूर आनन्द लिया। उन्होंनें समय-समय पर डॉक्टर, मिशनरी, माली, बावर्ची, किसान, पशु-चिकित्सक, एम्बुलेन्स ड्राइवर, बढ़ई, कवि और कार्टूनिस्ट का रोल अदा किया।

बेकर को कई विश्वविद्यालयों ने डॉक्ट्रेट की डिग्री से अलंकृत किया। ब्रिटिश सरकार ने उन्हें आर्डर ऑफ द ब्रिटिश एम्पायर और एमबीई से सम्मानित किया। 1990 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने यूएनओ का पहला हैबिटैट अवार्ड और यूएन रोल ऑफ हॉनर से लौरी बेकर को सुशोभित किया। बेकर कई महत्वपूर्ण सरकारी समितियों के सदस्य भी रहे। 1990 में भारत सरकार ने उन्हें पद्मश्री से सम्मानित किया। परन्तु उनको सबसे अधिक खुशी तब हुई जब 1988 में उन्हें भारतीय नागरिकता मिली। बेकर और उनकी पत्नी एलेजाबेथ ने तीन बच्चों का गोद लिया - बेटा तिलक और बेटियां विद्या और हाइडी।

अपना खुद का घर बनाते हुए भी लौरी बेकर ने वही सिद्धांत इस्तेमाल किया जिनका प्रचार उन्होंनें जीवन भर किया। सही मायने में उनका जीवन ही उनका सन्देश था। 1 अप्रैल 2007 को अप्रैल-फूल वाले दिन 90 वर्ष की आयु में घर पर ही बेकर ने प्राण त्यागे। मृत्यु में भी उन्होंनें अपने टीकाकारों को नहीं बख्शा। उनके घर का नाम था *हैमलेट* - और उसके निर्माण के बाद उन्हें अपनी अस्मिता - *मैं हूं या नहीं* हूं के बारे में कोई शक नहीं रहा था। अंत में हम शेक्सपियर के मार्क अंतोनी के इस वाक्य को ही दोहरा सकते हैं: *'कभी था एक बेकर! दूसरा कब आएगा अब?'*

अन्ना मणि

(1918 - 2001)

'जिन बहादुर महिलाओं को मैं जानती थी वो अब बूढ़ी हो चली हैं।
उनमें से प्रत्येक एक पेड़, या प्रकाशगृह जैसी थीं,
या फिर प्रकाशगृह के इर्द-गिर्द मंडलाती समुद्री चील जैसी थीं,
या फिर समुद्री चील के चारों ओर चक्कर खाती डॉल्फिन मछली जैसी थीं,
जो प्रकाशगृह का चक्कर काटती हैं।
इसी तरह मेरे विचार भी असावधानी से इधर-उधर मंडरा रहे हैं। ?'

- अन्ना मणि को श्रृद्धांजलि - सुनीती नामजोशी

1950 में जब होमी भाभा देश में आणविक ऊर्जा का ताना-बाना बुन रहे थे उस समय अन्ना मणि की महिला संवेदनाएं देश में सौर और पवन ऊर्जा तलाश रही थीं। स्वतंत्रता के बाद मणि ने मौसम विज्ञान के क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण योगदान किया।

अन्ना मोडियाल मणि का जन्म 23 अगस्त 1918 को पीरमेडू, केरल में हुआ। उनके पिता इलायची के एक बड़े बाग के मालिक थे। इसाई धर्म में पैदा होने के बावजूद अन्ना के पिता का धर्म में विश्वास नहीं था। अन्ना को पुस्तक पढ़ने का जबरदस्त चस्का था और बारह वर्ष की अल्पआयु में वो स्थानीय पुस्तकालय की सभी पुस्तकों को पढ़ चुकी थीं। आठ साल की उम्र में उन्होंनें हीरे के कुंडलों को नकार कर उन पैसों से *इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटॉनिका* खरीदा। पुस्तकों ने अन्ना के लिए एक नई दुनिया खोली और किताबों से ही उन्होंनें सामाजिक न्याय का सबक सीखा। 1925 में गांधीजी अन्ना के शहर में आए जिसका अन्ना पर गहरा प्रभाव पड़ा। अपनी अन्य बहनों की तरह अन्ना ने जल्दी शादी करने से इंकार किया और उच्च शिक्षा प्राप्त करने की ठानी। सारी जिन्दगी अन्ना ने खादी ही पहनी।

अन्ना का वैसे तो इरादा डॉक्टर बनने का था परन्तु क्योंकि वो फिजिक्स में बहुत तेज थीं इसलिए उन्होंने इसी विषय को चुना। उन्होंनें मद्रास के प्रेसीडेन्सी कॉलेज से फिजिक्स हानर्स की डिग्री प्राप्त की। कॉलेज में समाजवाद के प्रति उनका रुझान बढ़ा। 1940 में उन्हें एक छात्रवृत्ति मिली जिसकी वजह से वो बैंगलोर स्थित इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ साइन्स में सर सी.वी. रमन के मार्गदर्शन में शोध कर पायीं। यहां उन्होंनें हीरों और मानिक (रूबी) के वर्णक्रम (स्पेक्ट्रॉस्कोपी) पर शोध किया। इसके लिए उन्हें फोटोग्राफिक प्लेट्स को 16-20 घंटे तक प्रकाश में रखना पड़ता था। इसलिए वो अक्सर प्रयोगशाला में ही सो जाती थीं! अन्ना ने हीरों की चमक (संदीप्ती) के ऊपर पांच शोधपत्र लिखे। 1945 में उन्होंनें मद्रास यूनिवर्सिटी को अपनी पीएचडी की थीसिस सौंपी। पर क्योंकि अन्ना ने एमएससी नहीं की थी इसलिए उन्हें यूनिवर्सिटी ने पीएचडी की डिग्री नहीं प्रदान की। सौभाग्य से अन्ना मणि ने इस कागजी डिग्री को कभी भी अपने काम मे आड़े आने नहीं दिया।

1913 मे जब अन्ना मणि का जन्म हुआ तब भारत में महिलाओं की साक्षरता दर 1 प्रतिशत से भी कम थी। देश में सभी कॉलेजों में कुल मिलाकर 1000 से भी कम महिला छात्र थीं। 1930 में जब मणि कॉलेज में थीं तब भी महिलाओं के लिए विज्ञान शिक्षण के बहुत कम अवसर थे। तब यह मान्यता थी कि महिलाओं की शिक्षा उन्हें सिर्फ एक अच्छी मां और गृहणी बनाने के लिए ही होनी चाहिए।
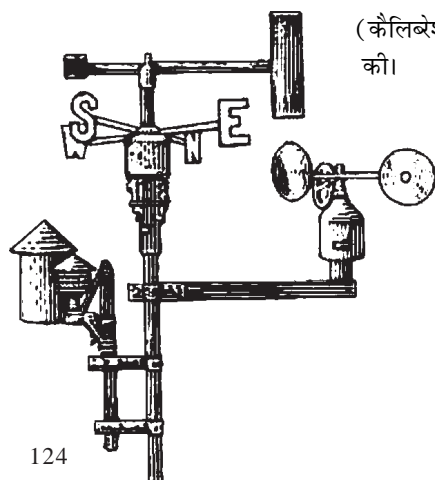
कुछ समय बाद अन्ना मणि को इंग्लैंड में उच्च शिक्षा के लिए एक छात्रवृत्ति मिली। वो 1945 में एक लड़ाकू जहाज में सवार होकर इंग्लैंड के इम्पीरियल कालेज में फिजिक्स सीखने गयीं परन्तु अंत में उन्होंनें मौसम-विज्ञान सम्बन्धी उपकरणों में विशेषता प्राप्त की। यहां उन्होंने मौसम सम्बन्धी उपकरणों के व्यासमापन (कैलिब्रेशन) आदि की विस्तृत जानकारी हासिल की।

स्वतंत्रता के बाद भारत में अनेकों सम्भावनाएं खुलीं और अन्ना मणि ने इन चुनौतियों को स्वीकारा। 1948 में उन्होंनें पुणे स्थित भारतीय मौसम विभाग के उपकरण विभाग में काम शुरु किया। इस विभाग के प्रमुख एक दूरदर्शी और उत्साही व्यक्ति श्री एस पी विंकेटेश्वरन थे। 1947 से पहले मौसम मापने के छोटे-छोटे उपकरण जैसे थर्मामीटर,

बौरोमीटर आदि भी विदेश से आयात होते थे। राष्ट्रीय स्वावलम्बन की भावना से ओतप्रोत विंकेटश्वरन इन उपकरणों का निर्माण भारत में करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंनें एक उच्च कोटि की वर्कशाप स्थापित की जहां वर्षामापी, तापमापी, हवा की गति आदि मापने के उपकरण बन सकें। उन्होंने स्वत: दर्ज करने वाले उपकरणों जैसे थर्मोग्राफ, हाइड्रोग्राफ आदि पर शोधकार्य भी आरम्भ किया। अन्ना मणि इस सबसे से बहुत प्रेरित हुयीं। उन्होंनें कम-से-कम समय में देश में मौसम-विज्ञान के उपकरणों के उत्पादन की चुनौती को स्वीकारा।
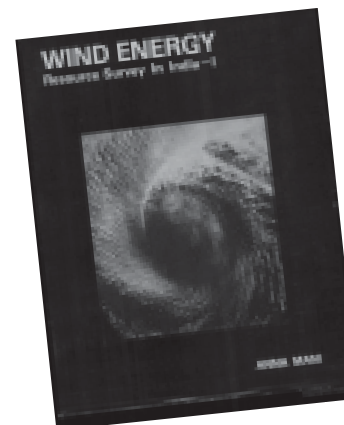
यह काम इतना आसान नहीं था क्योंकि देश में परिष्कृत मशीनों को चलाने वाले कुशल मिकैनिक्स की बेहद कमी थी। परन्तु मणि ने जो भी उपलब्ध था उससे काम को आगे बढ़ाने की ठानी। उन्होंने अपने विभाग के 121 लोगों को गुणात्मक कार्य करने के लिए प्रेरित किया। उनका नारा था: *'काम करने की उत्तम पद्धति ढूंढो।'* उन्होंनें संख्याओं की बजाए गुणवत्ता पर बल दिया। इस काम में उन्हें बहुत श्रम करना पड़ा परन्तु जल्द ही मणि ने भारतीय वैज्ञानिकों और इंजिनियर्स का एक ऐसा ठोस समूह तैयार किया जो इस कार्य को करने के लिए तैयार था।

अन्ना मणि ने 100 से अधिक मौसम सम्बन्धी उपकरणों का मानकीकरण किया और उनका उत्पादन शुरु किया। मणि की सौर-ऊर्जा में गहरी रुचि थी जिसे वो भारत जैसे गर्म देश के लिए बहुत अनुकूल मानती थीं। उस समय देश में सूर्य ऊर्जा सम्बन्धी भौगोलिक और मौसमी जानकारी की बहुत कमी थी। 1957-58 के *इंटरनैशनल ज्योफिजिकल इयर* में मणि ने देश में सौर-ऊर्जा मापने का जाल बिछाया। इसके लिए शुरु में विदेशी उपकरणों का उपयोग किया गया परन्तु मणि ने जल्द ही उन्हें देश में बनाने की व्यवस्था की।

मणि का मानना था कि गलत माप से तो माप न लेना ही बेहतर है। उन्होंनें यह सुनिश्चित किया कि हरेक उपकरण का डिजाइन बढ़िया हो और उनका कैलिब्रेशन भी ठीक हो। 1960 में उन्होंनें *ओजोन* का अध्ययन शुरु किया। उस समय यह शब्द इतना प्रसिद्ध नहीं था। ओजोन पृथ्वी की जीव सम्पदा को घातक
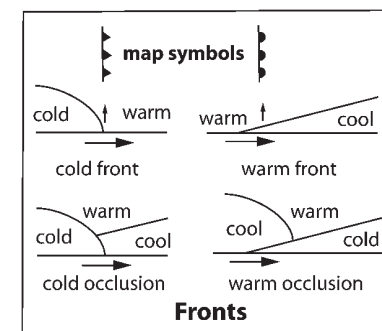
किरणों से कैसे सुरक्षित रखती है यह बात दो दशकों बाद ही पता चली! मणि ने ओजोन मापने का एक उपकरण - *ओजोनसोन्डे* विकसित किया। इस उपकरण की वजह से भारत ओजोन सम्बन्धित तथ्यात्मक आंकड़े इकट्ठे कर पाया। मणि के महत्वपूर्ण योगदान के कारण उन्हें *इंटरनैशनल ओजोन कमिशन* का सदस्य मनोनीत किया गया।

1963 में विक्रम साराभाई के आग्रह पर मणि ने थुम्बा रॉकेट लांचिन्ग पैड के पास मौसम की जानकारी एकत्रित करने के लिए एक प्रयोगशाला स्थापित की। 1976 में अन्ना मणि भारतीय मौसम विभाग में डिप्टी डायरेक्टर जनरल के पद से सेवानिवृत्त हुयीं। उसके बाद उन्होंने बैंगलोर के पास नन्दी हिल्स पर एक मिलिमीटर तरंग लम्बाई की दूरबीन स्थापित की। उनके द्वारा लिखी दो पुस्तकें - *हैन्डबुक ऑफ सोलर रेडियेशन डैटा फॉर इंडिया* (1980) और *सोलर रेडियेशन ओवर इंडिया* (1981) अब सौर-ऊर्जा पर काम कर रहे इंजिनियरों के लिए मानक पुस्तकें बन गयीं हैं। एक दूरदर्शी वैज्ञानिक की हैसियत से उन्होंनें भारत में पवन ऊर्जा की सम्भावनाओं को पहचाना और 700 भिन्न स्थानों से पवन सम्बन्धी आंकड़े एकत्रित किए। अगर आज भारत पवन-ऊर्जा के क्षेत्र में छलांग लगा रहा है तो इसका काफी क्षेय अन्ना मणि को जाता है।

कई सालों तक अन्ना मणि बैंगलोर में हवा की गति और सौर-ऊर्जा नापने के उपकरण बनाने वाली एक कम्पनी की प्रमुख रहीं। उन्होंनें कभी विवाह नहीं किया। उन्हें प्रकृति से बहुत लगाव था। पहाड़ों पर घूमना और पक्षी निरीक्षण उनके शौक थे। वो कई अकादेमियों की - इंडियन नैशनल साइन्स एकैडमी, अमेरिकन मीटीरयोलौजिकल सोसाइटी, और इंटरनैशनल सोलर इनर्जी सोसाइटी की सदस्य थीं। 1987 में उन्हें इन्सा द्वारा के.आर. रामनाथन पदक से सम्मानित किया गया। 1994 में उन्हें स्ट्रोक आया जिसके बाद वो पलंग से उठ नहीं पायीं। 16 अगस्त 2001 में तिरुवनन्तपुरम में उनका देहान्त हो गया।

वी. रामालिंगास्वामी

(1921 - 2001)

प्रोफेसर विलिमिरी रामालिंगास्वामी को प्रसिद्ध लीओन बर्नाड फाउंडेशन अवार्ड के पुरुस्कार से सम्मानित करते हुए 1976 में वर्ल्ड हैल्थ एसेम्बली के अध्यक्ष सर हैरल्ड वाल्टर ने प्रशंसा में कहा कि रामालिंगास्वामी *'एक डॉक्टर, शोध-वैज्ञानिक, शिक्षक और मानववादी व्यक्ति थे।'*
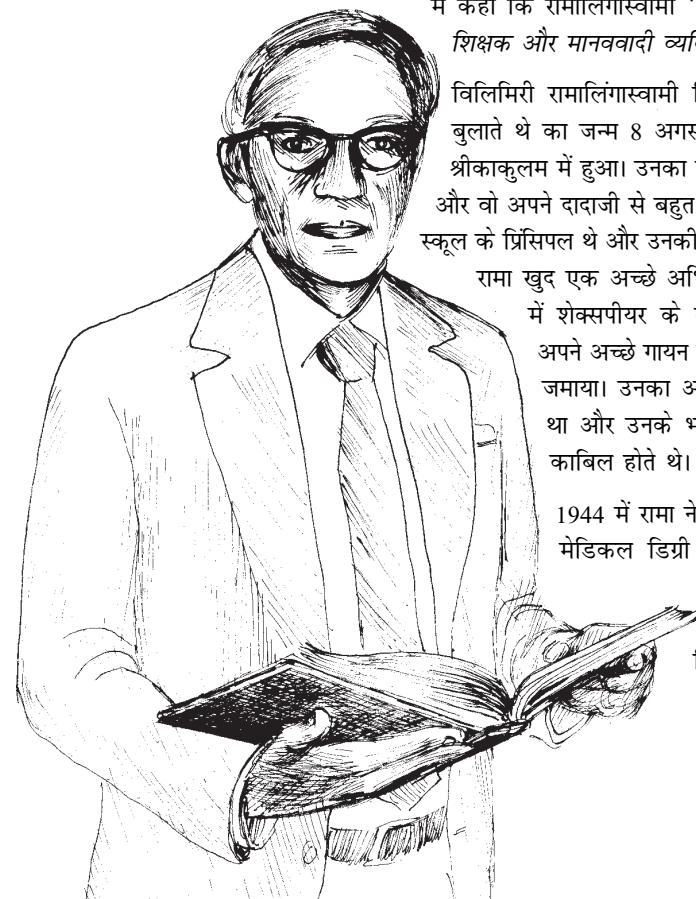
विलिमिरी रामालिंगास्वामी जिन्हें मित्र *रामा* के नाम से बुलाते थे का जन्म 8 अगस्त 1921 को आंध्र प्रदेश के श्रीकाकुलम में हुआ। उनका पूरा परिवार शिक्षा से जुड़ा था और वो अपने दादाजी से बहुत प्रभावित थे। दादाजी स्थानीय स्कूल के प्रिंसिपल थे और उनकी शेक्सपीयर में गहरी रुचि थी। रामा खुद एक अच्छे अभिनेता थे और उन्होंनें कॉलेज में शेक्सपीयर के कई पात्रों का रोल निभाया। अपने अच्छे गायन से उन्होंनें कई महफिलों में रंग जमाया। उनका अंग्रेजी का उच्चारण अभूतपूर्व था और उनके भाषण स्पष्टता के लिए सुनने काबिल होते थे।

1944 में रामा ने आंध्र प्रदेश से अपनी पहली मेडिकल डिग्री हासिल की और 1946 में उन्होंनें उसी यूनिवर्सिटी से एमडी की डिग्री प्राप्त की। फिर वो आक्सफोर्ड इंग्लैन्ड

गए जहां 1951 में डीफिल और 1967 में डीएससी हासिल की। उन्होंनें 1947 में न्यूट्रिशन रिसर्च लैबोरेट्री, कुन्नूर (अब नैशनल इंस्टिट्यूट ऑफ न्यूट्रिशन, हैदराबाद) में अपना शोध कार्य आरम्भ किया जो अगले छह दशकों तक जारी रहा।

रामा गरीब देशों में बीमारियों के कारणों को समझना और शोध द्वारा उनके उपचार खोजना चाहते थे। उनके इस मानवीय तरीके में प्रयोगशाला, अस्पताल और समुदाय तीनों का समन्वय था। जिन भिन्न क्षेत्रों में उन्होंनें मौलिक शोधकार्य किया वो हैं - प्रोटीन-ऊर्जा और कुपोषण का सम्बन्ध, आयोडीन का अभाव, कुपोषण द्वारा खून की कमी, और गर्म देशों में यकृत की बीमारी आदि। देश के विकास के लिए प्राथमिक स्वास्थ्य-सेवा, संक्रामक रोगों और स्वास्थ्य अनुसंधान में रामा की गहरी रुचि थी। उनकी व्यक्तिगत निष्ठा और नेतृत्व के कारण ही 1967 के बिहार अकाल, और 1971 के बांग्लादेश युद्ध में हजारों-लाखों लोग कुपोषण के अभिशाप से बच पाए।

घेघा रोग (थाइरॉइड से गला फूलना) के अत्यधिक प्रचलन के कारण रामा ने सामुदायिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में एक क्लासिक प्रयोग किया। इसमें कांगड़ा पहाड़ियों में रहने वाले एक लाख से अधिक लोगों का सर्वेक्षण शामिल था। आयोडीन युक्त नमक खाने से इस बीमारी में भारी कमी आयी। इसी शोधकार्य ने ही राष्ट्रीय आयोडीन अभाव नियन्त्रण कार्यक्रम की नींव रखी जिससे 30 करोड़ से ज्यादा लोगों को इस रोग से सुरक्षा मिली!

रामालिंगास्वामी ने गर्भवती माताओं में लोहे की कमी को पूरा करने के लिए सफलतापूर्वक लौह-पूरक शुरु किए। इस कार्यवाही से महिलाओं और बच्चों के स्वास्थ्य में महत्वपूर्ण सुधार आया।

लाल रक्त के कारण सामान्यत: हमारे आंखों की निचली पलक लाल और नाखून गुलाबी होते हैं।

रक्त में लोहे की कमी से आंखें फीकी पड़ जाती हैं और नाखून सफेद।
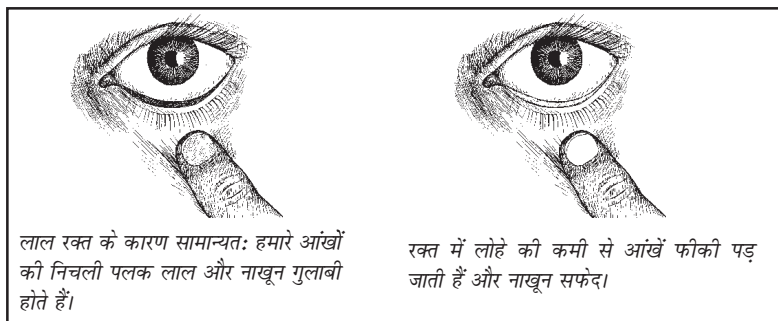
रामालिंगास्वामी ने एक नई और महत्वपूर्ण खोज की - यकृत की एक बीमारी जो कि *इंडियन चाइल्डहुड सिरौसिस* के नाम से जानी जाती है।

विटामिन-ए की कमी से अंधापन होता है, यह तथ्य तो बहुत पहले से मालूम था। रामालिंगास्वामी पहले व्यक्ति थे जिन्होंनें इस विषय पर गम्भीर अध्ययन किया और उसकी पुष्टि की। उन्होंनें बन्दर माताओं में विटामिन-ए की कमी से उनके बच्चों के रैटिना के रॉड्स और कोन्स को हुए नुकसान का अध्ययन किया।

ऑल इंडिया इंस्टिट्यूट ऑफ मेडिकल साइन्सेस (ऐम्स) की स्थापना के समय अच्छे शिक्षकों की जोरदार तलाश हुई। तभी रामालिंगास्वामी पैथालोजी विभाग में प्रोफेसर के पद पर नियुक्त हुए। जल्द ही वो विभाग प्रमुख बने और उन्होंनें एक उच्च दर्जे का पैथालोजी स्कूल स्थापित किया। उन्होंनें अनेक जहीन छात्रों को प्रेरित किया और इन छात्रों ने उनके नाम और शोहरत को दुनिया के कोने-कोने में फैलाया।

ऐम्स के कार्यकाल के दौरान रामालिंगास्वामी ने भारतीय और पश्चिम के प्रमुख पैथॉलोजिस्ट के बीच सम्वाद स्थापित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। इस सूची में विश्व के जाने-माने पैथॉलोजिस्ट शामिल थे - हारवर्ड के डॉ. बेन्जामिन कैसिलमैन और वाल्टर पुशचर, मौन्टीफेरे अस्पताल के. हैन्स पॉपर, रॉयल फ्री अस्पताल की डेम शीला शर्लाक और अन्य दिग्गज डॉक्टरों ने पैथॉलोजी के विभिन्न पक्षों पर भाषण दिए। बाद में रामालिंगास्वामी ऐम्स के निदेशक बने और इस काम को भी उन्होंनें बखूबी अंजाम दिया।

इंडियन काउंसिल ऑफ मेडिकल रिसर्च (आईसीएमआर) को स्थापित करने में रामालिंगास्वामी ने अहम भूमिका निभाई और 1979 वो उसके डायरेक्टर-जनरल बने। इस संस्था में उन्होंने सात साल काम किया और इस दौरान उन्होंनें आईसीएमआर की गतिविधियों को कई दिशाओं में बहुत आगे बढ़ाया। नई संस्थाएं स्थापित करने के साथ-साथ उन्होंनें रीजनल मेडिकल रिसर्च सेन्टर्स की अवधारणा रची जिससे कि दूर-दराज स्थित क्षेत्रों की स्थानीय बीमारियों पर प्रांतीय स्तर पर शोधकार्य हो सके। उन्होंनें आईसीएमआर का पुनर्गठन किया और हर शोध कार्यक्रम की सख्ती के साथ समकक्ष विद्वानों से समीक्षा के आदेश दिए। उनके द्वारा स्थापित तौर-तरीकों से बहुत लाभ हुआ और वो आज भी उपयोग में लाए जा रहे हैं।

एक अच्छे डॉक्टर की हैसियत से रामालिंगास्वामी ने देश में रोग-विज्ञान (एपीडिमियॉलोजी) के शोध पर अत्याधिक बल दिया। उन्होंनें हर रोग को दर्ज और लिपिबद्ध करने पर जोर दिया और *इंडियन रजिस्ट्री ऑफ डिजीजिस* की स्थापना की जिसमें आंकड़ों के विश्लेक्षण के लिए एक सांख्यिकी विभाग का प्रावधान भी था। इसी की बदौलत बाद

में आईसीएमआर में एक स्वतंत्र सांख्यिकी विभाग स्थापित हुआ।

देश में आपदा की स्थिति में अपनी सेवाएं समर्पित करने को रामालिंगास्वामी सदैव तत्पर रहते थे। भोपाल गैस कांड इसकी एक जीती-जागती मिसाल है। इस आपदा से निबटने और गैस कांड पीड़ितों पर वैज्ञानिक जानकारी एकत्रित करने के लिए रामालिंगास्वामी ने तमाम संस्थागत और व्यक्तिगत साधन जुटाए। सूरत शहर में हैजे के दौरान भी उन्होंनें सक्रिय सहायता की।

रामालिंगास्वामी ने विश्व की सबसे बड़ी औद्योगिक दुर्घटना - भोपाल गैस काण्ड की जांच-पड़ताल की। यूनियन कार्बाइड (अब डॉव केमिकल्स) की उपेक्षा से हजारों लोगों की जानें गयीं।

सेवानिवृत्ति के बाद भी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं प्रोफेसर रामालिंगास्वामी की सेवाओं से लाभान्वित होती रहीं। उन्हें हारवर्ड विश्वविद्यालय ने पहले फोगर्टी प्रोफेसर और बाद में एक विशिष्ट विष-वैज्ञानिक (टॉक्सिकॉलोजिस्ट) के रूप में आमंत्रित किया। उसके बाद उन्होंनें पांच वर्ष तक यूनिसेफ के साथ काम किया। वो राष्ट्रीय स्तर की कई संस्थाओं के साथ लगातार जुड़े रहे जिनमें राजीव गांधी फाउंडेशन, कैन्सर रिसर्च इंस्टिट्यूट, सेन्टर फॉर साइन्स एंड इनवायरनमेन्ट और रनबख्शी फाउंडेशन उल्लेखनीय हैं। अपने जीवन के अंतिम दिन तक वो नई दिल्ली स्थित ऐम्स में नैशनल प्रोफेसर की हैसियत से काम करते रहे।

प्रोफेसर रामालिंगास्वामी भारतीय मेडिकल डॉक्टरों में शायद सबसे अधिक सम्मानित व्यक्ति थे। वो भटनागर और पद्मभूषण दोनों पुरुस्कार से अलंकृत थे। रॉयल सोसाइटी की फेलोशिप (एफआरएस) और तीनों भारतीय विज्ञान अकादेमियों के वो सदस्य थे। 1979-80 में वो इन्सा के अध्यक्ष थे। वो नैशनल एकेडमी ऑफ मेडिकल साइन्सेज, अमरीकी और रूसी साइन्स एकेडिमीज के सदस्य तो थे ही साथ में वो रॉयल कॉलेज ऑफ फिजिशियन्स और सर्जन्स के फेलो भी थे। स्वीडिन की कारोलिन्सका यूनिवर्सिटी ने उन्हें डॉक्ट्रेट की डिग्री से सुशोभित किया। रामालिंगास्वामी, वर्ल्ड हेल्थ ऑरगिनाइजेशन की ग्लोबल एडवाइजरी कमेटी ऑन मेडिकल रिसर्च के चेयरमैन थे।

प्रोफेसर रामालिंगास्वामी ने सुखी पारिवारिक जीवन बिताया। उनकी पत्नी सूर्या प्रभा नई दिल्ली स्थित जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय के सेन्टर फॉर सोशल मेडिसिन एंड कम्यूनिटी हेल्थ में प्रोफेसर के पद से सेवानिवृत्त हुयीं। उनका बेटा डॉक्टर वी. जगदीश अमरीका के मेरीलैन्ड में एक स्वंयसेवी संस्था *साउथ एशिया एगेन्स्ट एँड्स* के चेयरमैन हैं और उनकी बेटी डॉ. लक्ष्मी न्यूयार्क के माउंट साइनाय अस्पताल में काम करती हैं।

'अगर आपको लगता है कि आप जानते हैं तो आप सचमुच में नहीं जानते हैं। अगर आप मानते हैं कि आप किसी चीज को नहीं जान सकते, तब आप उसे जानते हैं।'
- जी.एन. रामचंद्रन

जी.एन. रामचंद्रन (यहां 'जी' गोपालसमुद्रम उनके पैतृक शहर और 'एन' नारायण अय्यर उनके पिता का नाम है) बीसवीं शताब्दी के एक विलक्षण भारतीय वैज्ञानिक थे। उन्होंनें अपने शोधकार्य से पूरी दुनिया में भारत का नाम रौशन किया। रामचंद्रन ने अपना अधिकांश शोधकार्य भारत में ही किया और इसमें उनके रोल-मॉडल प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर सी.वी. रमन थे। रामचंद्रन ने मॉलीक्यूलर बॉयोफिजिक्स, विशेषकर प्रोटीन के ढांचे को लेकर महत्वपूर्ण शोध किया। कोलेजन का ढांचा ट्रिपिल हेलिकल होता है यह रामचंद्रन ने अपने शोध से स्थापित किया। इस बुनियादी शोध के कारण ही हम पेप्टाइड्स को गहराई से समझ सके।

रामचंद्रन का जन्म 8 अक्टूबर 1922 को भारत के दक्षिणी-पश्चिम तटवर्ती शहर कोचीन के पास एक छोटे शहर में हुआ। उनके पिता एक स्थानीय कॉलेज में गणित के प्रोफेसर थे और उन्होंनें राम में बचपन से ही गणित के प्रति प्रेम के बीज बोए। वो रोज अपने कॉलेज के पुस्तकालय से गणित की कोई नई किताब लाते और रामचंद्रन को नई-नई प्रमेयों को हल करने के लिए प्रेरित

करते। वो गणित की समीकरणें लिखते और राम से उन्होंनें हल करने को कहते। इसलिए राम बचपन से ही उच्च गणित में पारंगत हो गए थे। अगर हरेक परीक्षा में वो गणित में 100 प्रतिशत अंक पाते तो इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं थी। 1942 में रामचंद्रन ने मद्रास यूनिवर्सिटी से बीएससी के कोर्स में पूरे विश्वविद्यालय में टॉप किया। सेन्ट जोसेफ कॉलेज में जिन दो शिक्षकों ने रामचंद्रन की रुचि फिजिक्स में जागृत की वो थे श्री पी.ई. सुब्रामनियम और जेसुआइट पादरी फादर राजम।

रामचंद्रन के पिता चाहते थे कि वो इंडियन सिविल सर्विस में जाएं पर यह बात रामचंद्रन को बिल्कुल नागवार थी। बाद में रेलवे इंजिनियरिंग बोर्ड की परीक्षा के लिए रामचंद्रन को दिल्ली भेजा गया। रामचंद्रन ने जानबूझ कर इस परीक्षा में गल्तियां की और फेल हुए! 1942 में रामचंद्रन ने बैंगलोर की प्रसिद्ध इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ साइन्स के इलेक्ट्रिकल इंजिनियरिंग विभाग में उच्च शिक्षा के लिए दाखिला लिया। परन्तु कुछ ही समय बाद उन्हें सर सी.वी. रमन फिजिक्स विभाग में ले आए। एक सप्ताह बाद रमन ने रामचंद्रन को लार्ड रैले द्वारा सुझाई एक जटिल समस्या का हल खोजने को कहा। एक ही दिन में रामचंद्रन ने इस समस्या की समीकरणें लिखीं और उनका हल ढूंढ निकाला। इससे रमन बेहद प्रसन्न हुए। रमन के मार्गदर्शन में रामचंद्रन ने आप्टिक्स और एक्स-रे टोमोग्राफी के क्षेत्र में शोधकार्य किया। रमन अपने इस विलक्षण छात्र के करिश्मों से फूले नहीं समाए।

लॉइनस पॉलिंग
एक जादुई नाम है
केमिकल बान्ड्स में
सभी चीजों में
सभी पदार्थों में
चाहें वो जीवित हों या मृत
उनकी प्रकृति और रूप जानने के लिए
उनका व्यवहार पहचानने के लिए।
उनके अल्फा हेलिक्स ने
खोले नए आयाम
बॉयो-पौलिमर पदार्थ का
ढांचा खोजने के लिए
यह महान ध्रुव-तारा
विज्ञान के आकाश पर दमकेगा
क्योंकि उसने जीवशास्त्रियों के लिए
खोलीं हैं नई राहें, नए पथ!

1947 में रामचंद्रन इंग्लैंड की कैविन्डिश लैबोरेट्री में शोधकार्य करने गए। इस प्रयोगशाला के प्रमुख सर लौरेन्स ब्रैग थे। केम्ब्रिज में उन्होंने डब्लू.ए. वूस्टर और एच. लैन्गा के साथ क्रिस्टलोग्राफी पर काम किया। यहां उन्होंनें क्रिस्टलस के इलास्टिक कांस्टेन्टस मापने की एक गणितीय थ्योरी भी विकसित की। 1949 में रामचंद्रन को केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी ने पीएचडी प्रदान की। केम्ब्रिज के ही दौरान रामचंद्रन की भेंट प्रसिद्ध वैज्ञानिक लॉइनस पॉलिंग से हुए। वो पॉलिंग के भाषणों और पेप्टाइड चेन्स के मॉडल्स से अत्यन्त प्रभावित हुए।

1949 में इंग्लैंड से लौटने के बाद रामचंद्रन ने 1952 तक फिजिक्स का अध्यापन किया। उसी समय मद्रास यूनिवर्सिटी के उपकुलपति और दूरदर्शी सर एल एल मुदलियार अपने यहां एक प्रायोगिक भौतिकी का विभाग खोलना चाहते थे जिसके लिए उन्होंनें सर सी.वी. रमन

को आमंत्रित किया। रमन ने उस पद के लिए रामचंद्रन के नाम की सिफारिश की। इसलिए 1952 में मात्र 29 वर्ष की आयु में रामचंद्रन मद्रास यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर के पद पर आसीन हुए। सर मुदलियार की उदार सहायता से रामचंद्रन मद्रास यूनिवर्सिटी में एक विश्व-स्तरीय एक्स-रे क्रिस्टलोग्राफी की प्रयोगशाला स्थापित करने में सफल हुए।

रामचंद्रन कोलेजन का ढांचा खोजने के कार्य में जुट गए। कोलेजन बहुमात्रा में पाया जाने वाला एक प्रोटीन टिश्यू (ऊतक) होता है। इसके लिए उन्होंनें कंगारू की पूंछ के टेन्डन से कोलेजन के नमूने उपयोग किए। इस कार्य में उनके पोस्ट ग्रैजुएट छात्र गोपीनाथ कर्था ने उनकी सहायता की। बहुत श्रम के बाद वो कोलेजन के तंतुओं के एक्स-रे डिफ्रैक्शन पैटर्नस पाने में सफल हुए। अपने प्रयोग के आधार पर उन्होंने गेंदों-और-सींकों से कोलेजन के मॉडल का ढांचा तैयार किया। 1954 में उनका यह शोध *नेचर* नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक पत्रिका में छपा। बाद में उन्होंने इस मॉडल को संशोधित कर एक नए और मशहूर 'काइल्ड स्ट्रक्चर' का ढांचा बनाया।
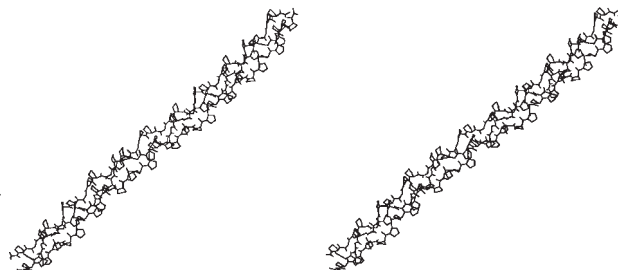
This is a stereo-view of the molecular structure of the backbone of collagen. If you cross your eyes while looking at it, you should be able to see the structure in 3-dimensions. You can see the three strands of polypeptides that wind around each other to make the helix.

रामचंद्रन और उनके साथियों ने पॉली-पेप्टाइड चेन्स के विश्लेषण की नींव रखी। उन्होंने एक दो-आयामी नक्शे की अवधारणा रखी जो आज बॉयोकेमिकल साहित्य में रामचंद्रन-प्लाट के नाम से विख्यात है। इसके द्वारा सभी पॉली-पेप्टाइड ढांचों को समझा जा सकता है। इन खोजों का स्टीरयो केमिस्ट्री और जीवविज्ञान जैसे विषयों पर भी गहरा प्रभाव पड़ा।
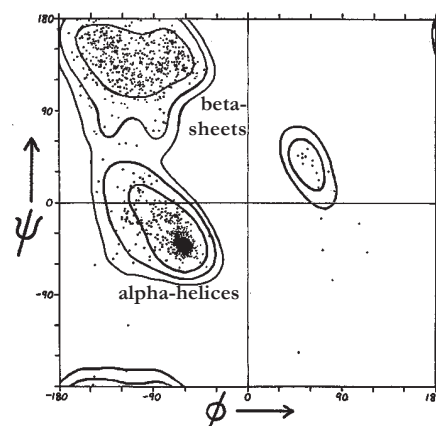
The Ramachandran plot (left) shows the distribution of peptide torsion angles (right) that determine the 3-dimensional structures of proteins.
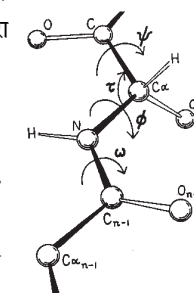
1970 में मद्रास यूनिवर्सिटी से इस्तीफा देने के पश्चात रामचंद्रन ने दो वर्ष यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो के बॉयो-फिजिक्स विभाग में बिताए। इस दो साल के प्रवास में उन्होंने दो-आयामी आंकड़ों से तीन-आयामी चित्र रचने की नई विधि का आविष्कार किया जो बाद में कम्पयूटर टोमोग्राफी का आधार बनी। शिकागो से लौटने के बाद रामचंद्रन ने इंडियन इंस्टि्टयूट ऑफ साइन्स में मॉलिक्यूलर बॉयोफिजिक्स यूनिट (एमबीयू) स्थापित किया। 1977 में उन्होंनें फोर्गटी प्रोफेसर की हैसियत से नैशनल इंस्टि्टयूट फॉर हेल्थ, बेथेस्डा, मेरीलैन्ड अमरीका में काम किया। उसी वर्ष उन्हें लंदन की रॉयल सोसाइटी का फेलो मनोनीत किया गया। 1978 में वो एमबीयू से सेवानिवृत्त हुए। उसके बाद भी वो आईआईएससी में 1989 तक मैथिमैटिकल फिलास्फी के प्रोफेसर जैसे काम करते रहे।

1980 के प्रारम्भ से वो पारकिन्सन बीमारी से पीड़ित रहने लगे। 1945 में उनकी शादी राजम से हुई। बीमारी के दौरान उनकी पत्नी ने उनकी समुचित सेवा की। 1998 में दिल के दौरे से राजम की आकस्मिक मृत्यु हो गई। यह रामचंद्रन के लिए एक गहरा सदमा था जिससे वो कभी नहीं उबरे। 1999 में इंटरनैशनल यूनियन ऑफ क्रिस्टलोग्राफर्स ने रामचंद्रन के उत्कृष्ट योगदान के लिए उन्हें पांचवे इवाल्ड पुरुस्कार से सम्मानित किया। 1999 में उन्हें एक दिल का दौरा पड़ा जिसके बाद से अपनी मृत्यु - 7 अप्रैल 2001 तक वो अस्पताल में ही रहे। उनके दो पुत्र हैं - रमेश नायारण (हारवर्ड यूनिवर्सिटी में खगोलशास्त्र के प्रोफेसर) और हरि (इंस्टि्टयूट फॉर प्लाजमा रिसर्च, अहमदाबाद) और उनकी बेटी विजया टेक्सस यूनिवर्सिटी में कम्पयूटर साइन्स की प्रोफेसर हैं।

रामचंद्रन तमाम कुशलताओं और रुचियों से सम्पन्न थे। उनकी भारतीय और पश्चिमी शास्त्रीय संगीत और दर्शनशास्त्र में गहरी रुचि थी। अपने संपूर्ण वयस्क जीवन में वो मानसिक बीमारियों से ग्रस्त रहे। परन्तु उससे उनकी वैज्ञानिक सृजनात्मकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। रामचंद्रन असली मायनों में नोबेल पुरुस्कार कोटि के वैज्ञानिक थे और यह बहुत दुख की बात है कि भारत सरकार ने उन्हें किसी शासकीय पुरुस्कार से सम्मानित नहीं किया। क्योंकि कोलेजिन चमड़े का एक अभिन्न अंग है इसलिए चेन्नई की सेन्ट्रल लैदर रिसर्च इंस्टि्टयूट ने अपने बड़े सभाग्रह का नाम रामचंद्रन द्वारा 1954 में खोज कोलेजन के ढांचे के सम्मान में 'ट्रिपल-हेलिक्स' रखा है।
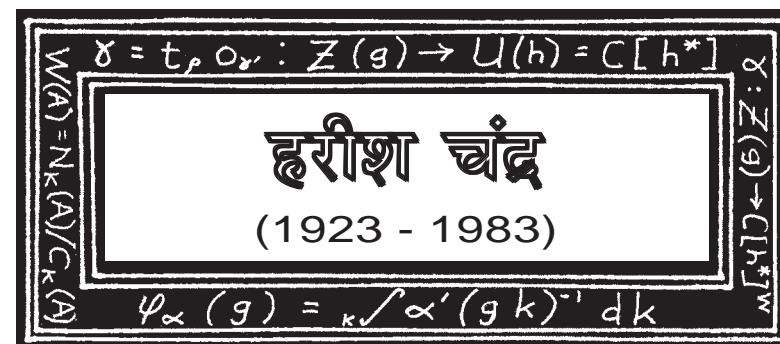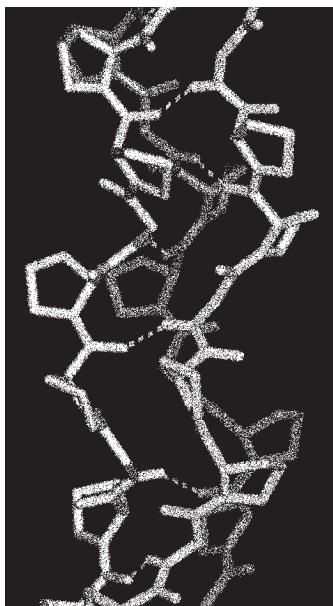
हरीश चंद्र

(1923 - 1983)

हरीश चंद्र अपनी पीढ़ी के एक अद्वितीय गणितज्ञ थे। उन्होंने गणित की एक अनजानी शाखा 'रेप्रिजेन्टेशनल थ्योरी' पर शोध कर उसे एक अत्यन्त महत्वपूर्ण शाखा में विकसित किया। यह शाखा सामयिक गणित के विकास के लिए केंद्रीय महत्व की है।

हरीश का जन्म 11 अक्टूबर 1923 को कानपुर में हुआ। उनके दादाजी अजमेर में रेलवे के एक वरिष्ठ क्लर्क थे। वो अपने बेटे चंद्रकिशोर को अच्छी शिक्षा देने के लिए कटिबद्ध थे। बेटे की शिक्षा के लिए पैसों की खातिर उन्होंने अपनी नौकरी से इस्तीफा देकर अपनी पेंशन आदि ले ली। उसके बाद उन्होंनें दुबारा फिर से रेलवे में नौकरी की। उससे उनकी वरिष्ठता जाती रही और उन्हें निचले स्तर पर नौकरी करनी पड़ी। हरीश के पिता चंद्रकिशोर का दाखिला देश के सर्वश्रेष्ठ कॉलेज - थॉमसन इंजिनियरिंग कॉलेज, रुड़की में हुआ। वो भारत का सबसे पहला इंजिनियरिंग कॉलेज था और लोक निर्माण संस्था के लिए सिविल इंजिनियर तैयार करने के लिए शुरु किया गया था। चंद्रकिशोर धीरे-धीरे करके बहुत ऊंचे ओहदे पर पहुंचे और अंत में उत्तर प्रदेश के सिंचाई विभाग के चीफ-इंजिनियर की हैसियत से रिटायर हुए। अक्सर हरीश अपने पिता के साथ दूर-दराज बनी नहरों को देखने जाया करते थे।

हरीश की मां सत्यगति सेठ एक जमींदार परिवार की थीं। उनके परिवार ने कभी 1957 के विद्रोह की केंद्रीय पात्र झांसी की रानी को अपने घर में पनाह दी थी। कृतज्ञता में झांसी की रानी उन्हें अपनी तलवार भेंट कर गयीं। इस भेंट को उनके परिवार ने बहुत आदर-सम्मान के साथ
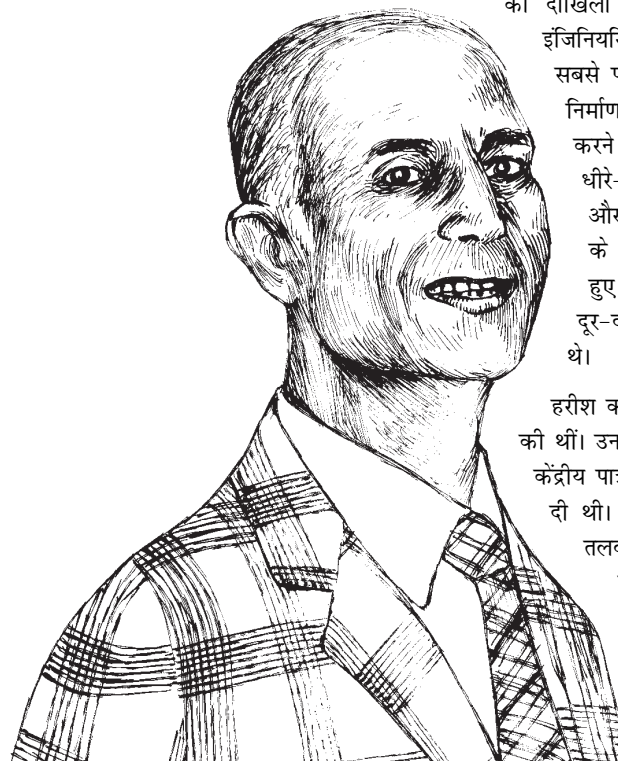
संजो कर रखा! हरीश ने अपने बचपन का ज्यादातर समय अपने नाना के घर पर ही बिताया। वो पढ़ाई में कुशाग्र थे परन्तु काफी बीमार रहते थे। वो क्योंकि कमजोर थे इसलिए उनकी कक्षा के लड़के उनका हमेशा मजाक उड़ाते थे। नाना के घर में हरीश की रुचि शास्त्रीय संगीत में जगी। हरीश के बड़े भाई ने इंडियन सिविल सर्विस (आईसीएस) में नौकरी की और वो स्वतंत्र भारत में चोटी के नौकरशाह बने।

चंद्रा ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा कानुपर में पूरी की। उन्होंनें इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से एमएससी की जहां उनके परीक्षक खुद सर सी.वी. रमन थे। चंद्रा ने पूछे जाने पर उन्होंनें तुरन्त वाद्ययंत्र मृदंगम की व्याख्या की जिससे रमन अत्यंत प्रभावित हुए और उन्होंने चंद्रा को 100 प्रतिशत अंक दिए। इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में के.एस. कृष्णन ने चंद्रा के नाम की सिफारिश की। इससे चंद्रा इंडियन इंस्टि्टयूट ऑफ साइन्स बंगलोर में होमी भाभा के मार्गदर्शन में काम करने गए। पर उस समय वहां सी.वी. रमन की शोहरत बुलन्दी पर थी इसलिए चंद्रा ने गणित की बजाए फिजिक्स ही पढ़ना उचित समझा। इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में चंद्रा को श्रीमती काले फ्रेंच सिखाती थीं। वो इस बीच आईआईएससी की लाइब्रेरियन बन गयीं थीं। इसलिए चंद्रा बंगलोर में उन्हीं के साथ रहे। बाद में चंद्रा की शादी श्रीमती काले की बेटी ललिता के साथ हुई।

भाभा ने चंद्रा की प्रतिभा पहचानी और उन्हें डिराक के साथ काम करने के लिए भेजा। 1945 में केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में डिराक के साथ काम करते समय चंद्रा ने अपनी सच्ची रुचि पहचानी और फिजिक्स छोड़कर गणित में शोधकार्य शुरु किया। केम्ब्रिज के दौरान उन्होंने वॉल्फगैन्ग पॉली के लेक्चर सुने और उनमें पॉली की एक गल्ती सुझाई। उसके बाद पॉली और चंद्रा जीवन भर के लिए पक्की मित्रता हो गई। 1947 में चंद्रा को पीएचडी मिली। उनकी थीसिस का विषय था *इंफाइनाइट इर्रिडयूसेबिल रेपरेजेन्टेशन्स ऑफ द लारेन्टज ग्रुप*। उसी साल चंद्रा अमरीका चले गए। इंस्टि्टयूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज, प्रिंसटन में आते ही चंद्रा अत्यन्त तेज गति से काम में जुट गए। उन्होंनें काम के वो मानक स्थापित किए जिनकी लोग वाहवाही तो कर सकते थे परन्तु उन पर अमल करना मुश्किल था। जब डिराक प्रिंसटन आए तब चंद्रा ने उनके सहायक जैसे काम किया।

चंद्रा दो गणितज्ञों से बहुत प्रभावित थे - हरमन वाइल और क्लॉड चिवाली से। उन्होंनें 1950 से 1963 तक तेरह वर्ष कोलम्बिया यूनिवर्सिटी में गम्भीर तर्क के सहारे गणित में शोधकार्य किया। चंद्रा ने प्रसिद्ध गणितज्ञ अरमांड बोराल के साथ मिल कर *अरथमैटिक ग्रुप्स* के थ्योरी रची। 1968 से 1983 तक मृत्युपर्यन्त वो इंस्टि्टयूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज, प्रिंसटन के गणित विभाग में आईबीएम के वॉन नौयमैन प्रोफेसर रहे।

चंद्रा कोई भी फालतू कागज नहीं फेंकते थे और अपनी पांडुलिपियों के पिछले पन्नों पर अपना कच्चा काम करते थे। उनके लेक्चर्स जिन्हें वो कोर्स के रूप में पढ़ाते थे की जबरदस्त मांग रहती थी। उनसे छात्रों को एक गणितज्ञ के सोच और संघर्षो की अनुभूति मिलती थी। चंद्रा खुद को गणित में एक बाहरी व्यक्ति समझते थे शायद इसलिए क्योंकि उन्होंनें इस विषय को काफी बाद में चुना था। वो दो अन्य बाहरी व्यक्तियों के बड़े प्रशंसक थे - वैन-गॉग और सेजान के। शायद इन दोनों चित्रकारों में वो अपनी छवि देखते थे। वैसे चंद्रा स्वयं एक कुशल पेन्टर थे।

भारत और इंग्लैन्ड के अंतिम सालों में चंद्रा *रेलेटिविस्टिक फील्ड थ्योरी* में व्यस्त रहे। उनके कार्य का उल्लेख कई शोध पत्रिकाओं ने किया। एक गणितज्ञ की हैसियत से हरीश चंद्र ने ऊंची बुलंदियों को छुआ। उनकी गढ़ी हुई थ्योरी आज भी एक 'गौथिक' चर्च के समान खड़ी है - जिसकी नींव भारी-भरकम भले ही हो परन्तु उसका ऊपरी भाग हल्का है और आसमान को छूता है। चंद्रा के लिए गणित का विषय, भगवान और इंसान के बीच मध्यस्थता करने का एक माध्यम था। उसमें उनका रोल लोगों को भगवान के करीब लाना नहीं था बल्कि भगवान को इंसान के पास लाना था।

हरीश चंद्र 1957-58 में गुगेनहीम और 1961-63 के बीच स्लोन फेलो रहे। 1973 में उन्हें रॉयल सोसाइटी की फेलोशिप से सम्मानित किया गया। 1975 में उन्हें इंडियन एकेडमी ऑफ साइन्सिस और नैशनल साइन्स एकेडमी की फेलोशिप प्रदान की गयी। 1981 में उन्हें अमरीकी नैशनल एकेडमी ऑफ साइन्स की सदस्यता प्रदान की गई। वो टाटा इंस्टि्टयूट ऑफ फंडामेन्टल रिसर्च के सम्मानीय सदस्य थे। 1973 में उन्हें दिल्ली यूनिवर्सिटी और 1981 में येल यूनिवर्सिटी ने डॉक्ट्रेट की डिग्रियों से सुशोभित किया। 1954 में उन्होंनें अमरीकन मैथमैटिकल सोसाइटी का कोल पुरुस्कार और 1974 में इंडियन नैशनल साइन्स एकेडमी का श्रीनिवास रामानुजन पदक जीता। भारत सरकार ने उनके सम्मान में इलाहाबाद में गणित और भौतिकी के क्षेत्र में बुनियादी शोध करने वाली संस्था का नाम *हरीश चंद्र रिसर्च इंस्टि्टयूट* (एचआरआई) रखा।

1983 में दिल के दौरे से हरीश चंद्र का देहान्त हुआ। उस समय प्रिंसटन में गणितज्ञ अरमांड बौरेल की साठवीं वर्षगांठ के उपलक्ष में एक समारोह चल रहा था। अगले साल इसी प्रकार का समारोह हरीश चंद के सम्मान में आयोजित होना था। हरीश चंद अपने पीछे पत्नी ललिता और दो बेटियां प्रेमला (प्रेमी) और देविका छोड़ गए।

औतार सिंह पेन्टल शायद भारत के सबसे प्रसिद्ध शरीर-वैज्ञानिक (फिजियालोजिस्ट) थे। वो एक मेहनती शोधकर्ता थे और अपने विचारों के प्रति दृढ़प्रतिज्ञ थे।

पेन्टल का जन्म 1925 में मोगौक बर्मा में हुआ जहां उनके पिता ब्रिटिश मेडिकल सर्विस में कार्यरत थे। उन्होंने चौदह साल की अल्पायु में लाहौर से दसवीं की परीक्षा पास की और उसके बाद फौरमैन क्रिस्टियन कॉलेज से इंटर पास किया। उसके पश्चात वो अपने माता-पिता के पास आ गए जो तब तक लखनऊ में स्थाई रूप से बस गए थे। 1943 में उन्होंने किंग जार्ज मेडिकल कॉलेज में दाखिला लिया। इसमें बर्मा की सरकार ने उनकी वित्तीय सहायता की।

पेन्टल एक विलक्षण छात्र थे और एमबीबीएस के दौरान उन्होंनें कई पुरुस्कार जीते जिनमें सर्वश्रेष्ठ छात्र का हवीइट गोल्ड मेडल शामिल था। उस समय हरेक डॉक्टर मरीजों का इलाज कर कोई सुपर-स्पेशलिस्ट बनना चाहता था। परन्तु पेन्टल ने इस राह को त्यागकर शरीर-विज्ञान (फिजियालोजी) में शोध करने की ठानी। उनकी एमडी के शोध का विषय था *इलेक्ट्रिकल रिजिस्टेन्स ऑफ द स्किन इन नार्मल बीइन्गस एंड सायकौटिक्स*। इस शोधकार्य के लिए उन्होंनें खुद अपने हाथों से सारा वैज्ञानिक उपकरण बनाया। पर शोध के लिए 400 मनोरोगियों का मिलना बहुत कठिन काम था।
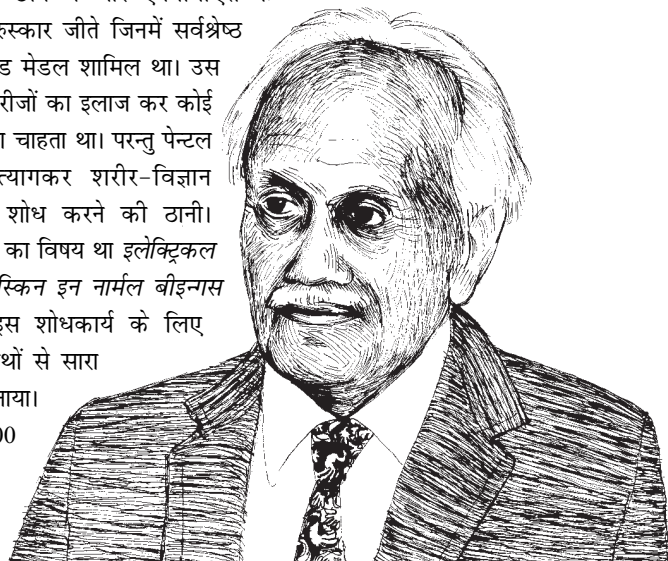
पेन्टल ने मानवीय विद्युतीय संवेदना मापने की एक नई इन्डेक्स बनाई। प्रारम्भिक दौर में शोध कर्ताओं ने इस पेन्टल इन्डेक्स का खूब उपयोग किया। पेन्टल किंग जार्ज मेडिकल कॉलेज में ही रहे और बाद में वहीं पर शरीर-विज्ञान पढ़ाने लगे।

फिर उन्हें एडिनब्रा मेडिकल स्कूल में पीएचडी करने के लिए रॉकेफेलर स्कालरशिप मिला। यहां उन्होंनें *जे-रिसेप्टर्स* को खोजा। उस समय किसी तंत्रिका के एक रेशे को उसकी सक्रियता खत्म किया बिना विच्छेदित करना बहुत मुश्किल काम था। उन्होंनें एक नया तरीका खोजा जिसमें उन्होंनें पूरी तंत्रिका को तरल पैराफीन में डुबोया और फिर बिना सक्रियता खोए एक-एक रेशे को अलग किया। उनके इस अनुसंधान से इस क्षेत्र में शोधकार्य को बहुत बल मिला।

1953 में पेन्टल भारत लौटे और उन्होंनें कानपुर की डिफेन्स लैबोरेट्री में कार्य शुरु किया। वहां पांच वर्ष काम करने के बाद उन्होंनें शरीर-विज्ञान के शोधकर्ता के रूप में ऑल इंडिया इंस्ट्टियूट ऑफ मेडिकल साइन्स (एम्स) में काम शुरु किया। छह वर्ष बाद वो वल्लभ भाई पटेल चेस्ट हास्पिटल के निदेशक बने और इस पद पर वो 1990 तक आसीन रहे। बाद में इंडियन काउंसिल फॉर मेडिकल रिसर्च (आईसीएमआर) के डायरेक्टर-जनरल पद पर रहते हुए भी उन्होंने पटेल अस्पताल स्थित अपनी दो-कमरे की प्रयोगशाला में शोधकार्य जारी रखा।

पेन्टल *जे-रिसेप्टर्स* की खोज के लिए प्रसिद्ध हैं। यह शब्द उन्हीं ने इजाद किया और उस पर उन्होंनें गम्भीर शोधकार्य भी किया। हमारे हृदय और गुर्दों में तंतुओं का एक विशाल जाल होता है जो स्थानीय परिवेश में रासायनिक अथवा यांत्रिक बदलाव होने पर तुरन्त सिग्नल भेजते हैं। पेन्टल ने दिखाया कि *जे-रिसेप्टर्स* ही अनैच्छिक क्रियाओं के जिम्मेदार होते हैं और उनसे ही मांसपेशियों की वर्जिश सीमा निर्धारित होती है। इस तरह का वापसी फीडबैक वर्जिश के दौरान मांसपेशियों की सुरक्षा के लिए आवश्यक होता है। *जे-रिसेप्टर्स* की खोज की दुनिया भर में खूब वाहवाही हुई।

511

J. Physiol. (1969), **203**, *pp.* 511–532
With 11 text-figures
Printed in Great Britain

MECHANISM OF STIMULATION OF TYPE J PULMONARY RECEPTORS

BY A. S. PAINTAL

From the Department of Physiology, Vallabhbhai Patel Chest Institute, Delhi University, Delhi 7

(*Received 9 December 1968*)

SUMMARY

1. The responses of type J pulmonary receptors (identified according to existing criteria) were studied in anaesthetized cats by recording impulses in individual vagal afferent fibres whose conduction velocity ranged from 0·8 to 7 m/sec.

2. Measurements of actual latencies between insufflation of halothane or ether into the lungs and the excitation of the endings, and the latencies before and after circulatory arrest have established that the endings are located in the interstitial tissues close to the pulmonary capillaries. Mainly for this reason, the term juxta-pulmonary capillary receptors (i.e. type J receptors) has been applied to these endings in preference to the term K deflation receptors used hitherto.

3. The endings were stimulated by pulmonary congestion produced by occlusion of the aorta or left a–v junction for short periods. They were markedly stimulated during pulmonary congestion following injection of alloxan (150 mg/kg) or the addition of chlorine to the inspired air. This excitation was associated with a marked rise in pulmonary artery pressure and the occurrence of pulmonary oedema. However, the actual onset of excitation occurred some time after the rise in pressure and it was in fact more closely related to fall in pulmonary compliance. The frequency of discharge averaged over about 10–20 sec (in order to take the periods of relative inactivity into account) was 7·5 impulses/sec in 10 fibres (range 0·6–19 impulses/sec; S.D. 6·3). This is intense stimulation of the endings ... so produced is therefore regarded as a severe stimulus

पेन्टल अपने शोध के क्षेत्र में दुनिया भर में अग्रणी थे। प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रोफेसर सी. हैमन्स ने पेन्टल के काम की दाद देते हुए फाइबर ऍक्शन पोटेनशियल के दो स्पष्ट काल सुझाए - एक पेन्टल से पहले का और दूसरे पेन्टल के बाद का। पेन्टल *जे-रिसेप्टर्स* के भिन्न पक्षों पर शोध करते रहे जिसमें ऊंचे पहाड़ों पर शरीर-विज्ञान एवं बहुत श्रम के बाद सांस फूलने जैसी स्थितियां शामिल थीं। इस शोध ने ऊंची पहाड़ियों पर कार्यरत भारतीय फौजी कैसे वहां की परिस्थितियों से अभ्यस्त होते हैं इस बात पर प्रकाश डाला।

ऊंचे प्रशासकीय पदों की चमक-धमक की ओर पेन्टल कभी भी आकर्षित नहीं हुए। वो अपनी छोटी प्रयोगशाला में खुश थे जहां वो गहराई से अपनी खोजबीन जारी रख सकते थे। पेन्टल महज एक अच्छे शोधकर्ता नहीं थे। विज्ञान के नैतिक मूल्यों में उनकी गहरी रुचि थी जिसके लिए उन्होंनें सोसाइटी फॉर साइन्टिफिक वैल्यूज (एसएसए) नाम की संस्था स्थापित की थी। बहुत से वरिष्ठ और युवा वैज्ञानिक इस संस्था से जुड़े थे। यह टीम वैज्ञानिक धोखाधड़ी के केसों की अपने पैसों से जांच पड़ताल कर सच्चाई तक पहुंचने का भरसक प्रयास करती। आज बहुत से लोग और जानी-मानी संस्थाएं इस टीम की सहायता लेती हैं। पेन्टल के ऊंचे नैतिक मापदण्ड अक्सर उनके सहकर्मियों को अखरते थे। वो किसी होटल में आयोजित बैठक या कांफ्रेन्स में कभी भाग नहीं लेते थे। उनका मानना था कि शैक्षिक या वैज्ञानिक बैठकें यूनिवर्सिटी के प्रांगड़ में ही आयोजित होनी चाहिए न कि पांच-सितारा होटलों में। वो कभी किसी कलंकित संस्था में पैर भी नहीं रखते थे - चाहें वो संस्था उन्हें सम्मानित ही क्यों न कर रही हो! उनके ऊंचे नैतिक गुणों के कारण बहुत से लोग उन्हें सनकी करार करके उनसे अलग भी हुए।

पेन्टल के छात्र उन्हें प्रयोगशाला में अक्सर किसी उपकरण की मरम्मत करत हुए पाते। ऐसा करना किसी भारतीय वैज्ञानिक के लिए एक दुर्लभ बात थी! उनके नैतिकता के उच्च मानकों पर अमल करना आम लोगों के लिए मुश्किल था। वो चाहते थे कि लोग नकल करना छोड़ कुछ मौलिक शोध करें जिससे मौजूदा ज्ञान का भंडार बढ़े। पेन्टल का मानना था कि *'दूसरों के श्रम और ज्ञान पर निर्भर रहकर अनुसंधान करना चोरी करने जैसा था।'*

शरीर-विज्ञान पर शोध के अलावा पेन्टल का एक अन्य शौक था - यमुना नदी पर नाव चलाना। पर यह वो सालों पहले करते थे क्योंकि बाद में यमुना नदी न रह कर एक नाला बन चुकी थी।

उनका लेक्चर लेने का तरीका भी बहुत रोचक था। उबाऊ भाषण की बजाए वो किस्से-कहानियां और अपने अनुभव सुनाते और वैज्ञानिक चर्चाएं करते।

इससे रट्टू तोता छात्र नाराज होते क्योंकि उन्हें तो रटने के लिए केवल नोट्स चाहिए थे! हां, जो छात्र ज्ञान के पिपासू थे उन्हें पेन्टल के प्रेरक लेक्चरों में अपार आनंद आता था। पेन्टल 'सही' और 'गलत' के अपने मूल्यों पर अटल रहते और निजी लाभ या सामाजिक मंजूरी के लिए उन्हें बदलने की जरूरत नहीं समझते थे।

अपने पचास सालों के लम्बे शोधकाल में पेन्टल ने 400 से अधिक शोधपत्र लिखे। उनके अनुसंधान का बॉयोमेडिकल साइन्स पर काफी प्रभाव पड़ा और शरीर-विज्ञान (फिजियालोजी) के क्षेत्र में तो उनका योगदान अद्वितीय है। उनके शोधपत्रों का प्रचण्ड उल्लेख किया जाता है। 2004 तक उनके शोधपत्रों का 3672 बार उल्लेख हुआ - जो किसी भी शोधकर्ता के लिए बहुत बड़ी उपलब्धि है। हांलाकि पेन्टल का मानना था कि किसी भी वैज्ञानिक का मूल्यांकन मात्र उसके शोधपत्रों अथवा लिखी पुस्तकों के आधार पर नहीं होना चाहिए। उनके अनुसार *'इस प्रकार के मूल्यांकन से कई अत्यावश्यक क्षेत्रों में शोध कार्य जैसे कोढ़-रोग आदि पर काम पिछड़ता है (पश्चिम देशों को इनकी जरूरत नहीं है)। इसलिए वैज्ञानिकों के मूल्यांकन का आधार उनके शोध की सामाजिक उपयोगिता और उनमें निहित सामाजिक मूल्य ही हो सकते हैं।'*

जब अन्य वैज्ञानिक पैसों की भरमार वाले नये-नये क्षेत्रों में घुस रहे थे तब भी पेन्टल अपने पुराने ग्लैमर-रहित क्षेत्र में लगन से शोध करते रहे।

उन्हें बहुत से पुरुस्कारों से सम्मानित किया गया। 1981 में उन्हें रॉयल सोसाइटी, लंदन और 1996 में रॉयल सोसाइटी, एडिनब्रा की फेलोशिप मिली। वो इंडियन नैशनल साइन्स एकेडमी और इंडियन साइन्स कांग्रेस के अध्यक्ष रहे। वो टर्थड वर्ल्ड एकेडमी के संस्थापकों में से एक थे। इस संस्था का काम उनके दिल के बहुत करीब था। 1986 में भारत सरकार ने पेन्टल को पद्मविभूषण से अलंकृत किया। वो अपने पीछे अपनी पत्नी आनंद को छोड़ गए। आनंद ने जीवन भर अपने पति के शोध में हाथ बंटाया। प्रोफेसर पेन्टल का व्यक्तित्व बहुत सरल था, वो दूसरों की गल्तियों को नजरन्दाज करते और अपनी महानता पर कभी गर्व नहीं करते थे। मेडिकल दुनिया के इस महान शोधकर्ता का देहान्त 21 दिसम्बर 2004 में दिल्ली में हुआ।

Conus arteriosus
Supraventricular crest
Tricuspid valve Anterior cusp
Posterior cusp
Right ventricle
Left papillary muscle
Right papillary muscle
Left ventricle
Aorta
Pulmonary tr.
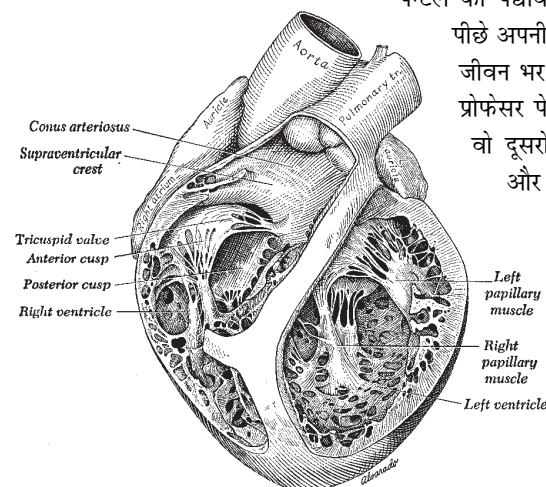
प्रोफेसर अशेष प्रसाद मित्रा ने आयनोस्फीयर और मौसम-बदलाव के क्षेत्र में अद्वितीय कार्य किया। उन्होंनें अपने गुरु प्रोफेसर शिशिर कुमार मित्रा (एफआरएस) के क्षेत्र में शोधकार्य को दक्षता से आगे बढ़ाया।

ए.पी. मित्रा का जन्म 21 जनवरी 1927 में कलकत्ता में हुआ। इसी शहर में ही उनकी प्रारम्भिक शिक्षा हुई। उनके पिता एक स्कूली शिक्षक थे जिनसे उन्होंनें शिक्षा और अनुशासन के उच्च मूल्य ग्रहण किए। बचपन के इन मूल्यों का मित्रा ने पोषण किया और उन्हें आजीवन अपनाया। पढ़ाई में तेज होने के कारण वो हमेशा अपनी कक्षा में प्रथम आते। कलकत्ता यूनिवर्सिटी से एमएससी की पढ़ाई समाप्त करने के बाद उन्होंनें प्रोफेसर एस.के. मित्रा (एफआरएस) की प्रयोगशाला में काम प्रारम्भ किया। प्रोफेसर मित्रा ने आयनोस्फीयर के क्षेत्र में अग्रणी शोधकार्य किया था।

1954 में कलकत्ता यूनिवर्सिटी से डीफिल समाप्त करने के बाद मित्रा ने दिल्ली स्थित नैशनल फिजिकल लैबोरेटरी (एनपीएल) में काम करना शुरु किया। वहां उन्होंनें रेडियो-विज्ञान का एक नया विभाग शुरु किया और उसके साथ अंत तक बहुत करीबी से जुड़े रहे। रेडियो-विज्ञान का विकास बहुत हद तक आयनोस्फीयर के अध्ययन से जुड़ा था। आयनोस्फीयर पृथ्वी के ऊपरी वातावरण का वो क्षेत्र है जो रेडियो-तरंगों को परावर्तित कर वापस भेजता है। इसी वजह से पृथ्वी की गोल सतह पर रेडियो संचार संभव हो पाता है। रॉकेटों के आगमन से पहले इस ऊपरी वातावरण तक पहुंच पाना बहुत मुश्किल काम था। आयनोस्फीयर के बारे में हम जो कुछ थोड़ा-बहुत जानते थे वो स्पेक्ट्रोस्कोपी और पृथ्वी पर लगे वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा ही सम्भव हो पाया था। प्रोफेसर एस.के. मित्रा ने भारत में आयनोस्फीयर शोध कार्य की नींव रखी। प्रोफेसर ए.पी. मित्रा ने इस कार्य को बहुत आगे बढ़ाया।

आयनोस्फीयर पर शोधकार्य हमेशा उस काल में उलपब्ध तकनीकों पर निर्भित रहा है। साठ के दशक में इस ऊपरी वातावरण की जांच-परख रॉकेटों के साथ भेजे उपकरणों के जरिए की गई। सत्तर के दशक में *सैटालाइट इंस्ट्रक्शनल टेलिविजन एक्सपेरिमेन्ट* (साईट) कार्यक्रम के अंतर्गत रेडियो-किरणों द्वारा इस क्षेत्र का अध्ययन किया गया। अस्सी के दशक में हीलियम के गुब्बारों और रॉकेट्स के जरिए इस ऊपरी क्षेत्र के बारे में तमाम जानकारी एकत्रित की गई। नब्बे के दशक में सैटालाइट और रॉडर के जरिए पृथ्वी की सतह से 1000 किलोमीटर ऊपर के क्षेत्र का अध्ययन हुआ। इसमें उस क्षेत्र के भौतिक गुणधर्म - घनत्व और तापमान के साथ-साथ अन्य बहुत से मापदण्डों का अध्ययन हुआ।

इंटरनैशनल ज्योफिजिकल ईयर 1957-58 और *इंटरनैशनल क्वाइट सॅन ईयर* 1964-65 में मित्रा ही भारतीय टीम की प्रेरक शक्ति थे।
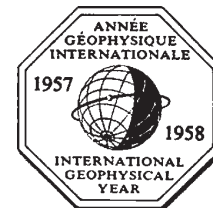
1970 में मित्रा ने ट्रोपो-स्फीयर क्षेत्र में रेडियो-शोधकार्य का प्रारम्भ किया जिससे भारत की रेडियो संचार क्षमता को बहुत लाभ पहुंचा। उन्होंने *इंटरनैशनल रेडियो एंड जियोफिजिकल वार्निन्ग सेन्टर* की स्थापना की जिससे की भारत समेत मध्य और दक्षिण-पूर्व एशिया में सम्भावित भूकम्पों की जानवारी पहले ही मिल जाए। उन्होंने इसी तरह *रेडियो फ्लेर डिटेक्शन सेन्टर* भी स्थापित किया।

मित्रा एक विलक्षण वैज्ञानिक के साथ-साथ कुशल प्रशासक भी थे। इन दोनों गुणों और उनके दृढ़ निणर्यो के कारण 1982-86 में एनपीएल के निदेशक और 1986-91 तक सीएसआईआर के डायरेक्टर जनरल के पद उन्होंनें प्रभावी तरीके से बिताए। वो एशियाई क्षेत्र में मानसून स्टडी प्रोग्राम के प्रमुख भारतीय संचालक थे।

नब्बे के दशक में मनुष्य की क्रियाओं द्वारा दुनिया के पर्यावरण में आई बदल के अध्ययन पर मित्रा का प्रमुख बल रहा। ओजोन परत, वातावरण का रासायनशास्त्र और भारत में ग्रीनहाउस गैसों को मापने के उनके अद्वितीय शोधकार्य का अंतर्राष्ट्रीय असर हुआ। 1990 के शुरु में यू एस इंवारनमेन्टल प्रोटेक्शन एजेन्सी ने आरोप लगाया कि भारत में धान के खेतों से 38.4 मिलियन टन मीथेन गैस निकलती है जो पृथ्वी के तापमान के बढ़ने का एक प्रमुख कारण है। मित्रा ने इसे सफेद झूठ बताया और अपने ठोस वैज्ञानिक अध्ययन से
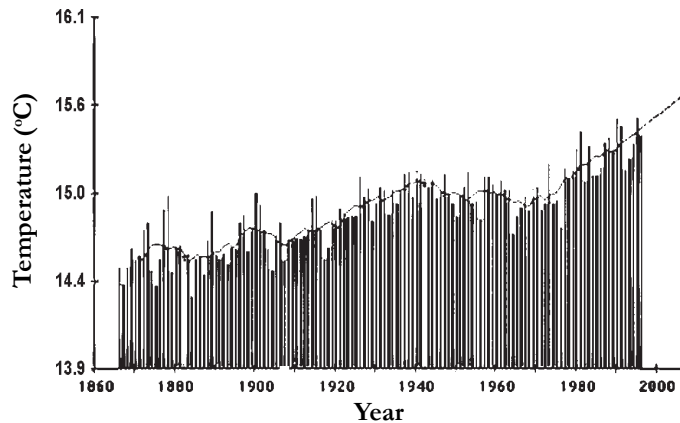
Global warming is shown in this graph of global yearly temperature.

दिखाया कि भारतीय धान के खेतों से केवल 4 मिलियन टन ही मीथेन निकलती है! और सच्चाई यह है कि पश्चिम के देश प्रति व्यक्ति भारत की तुलना में नौ गुना ज्यादा ग्रीनहाउस गैसें पैदा करते हैं। उन्होंनें भारत को भी कोयला जलने और दुकानों, घरों में लगे जेनरेटरों और कृषि उत्पादन में लगे डीजल इंजनों द्वारा पैदा प्रदूषण से आगाह किया।

वो पर्यावरण से जुड़ी राजनीति को अच्छे वैज्ञानिक शोध से चुनौती देना चाहते थे। उनके अनुसार विदेशी धन के काम करने वाली बहुत सी संस्थाएं वैज्ञानिक शोध को अपने संकीर्ण राष्ट्रीय हितों के लिए तोड़ती-मरोड़ती थीं। उनकी प्रबल इच्छा थी कि *साउथ एशियन एसोसिएशन फॉर रीजनल कोआपरेशन* (सार्क) के तत्वाधान में एक ऐसा नेटवर्क खड़ा हो जो इन देशों में होने वाले प्रदूषण और मौससी बदल की प्रामाणिक जानकारी एकत्रित करे और भारत इसकी स्थापना की अगुवाई करे। विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में मौसम सम्बन्ध ी जानकारी एकत्रित करने के लिए प्रयोगशालाएं स्थापित करने का उन्होंनें सुझाव दिया। इस शोधकार्य में मित्रा भारतीय सेना को भी शामिल करना चाहते थे क्योंकि सेना पूर्वी हिमालय के ऊंचाई पर स्थित उन क्षेत्रों में काम करती थी जहां वैज्ञानिक नहीं जाते थे। उनका पक्का विश्वास था कि अच्छी नीतियों के लिए सही और उच्च कोटि की जानकारी अनिवार्य थी। उनके अनुसार *इंटर-गवरमेन्टल पेनल ऑन क्लामेट चेन्ज* (आईपीसीसी) अपने शोध में बहुत पीछे था। वो चाहते थे कि भारत प्रदूषण और गैस निकासी पर खुद ठोस शोधकार्य करे और मौसम-बदलाव के मुद्दे पर उपयुक्त नीतियां बनाए।

1999 में मित्रा ने भारत, यूरोप, माल्डीव और अमरीका के 200 से भी अधिक वैज्ञानिकों के साथ मिलकर छह हफ्ते का एक अभूतपूर्व वैज्ञानिक अध्ययन किया। इसमें उन्होंनें हवा

में एरोसोल के बहुत सूक्ष्म कणों का मौसम पर पड़े प्रभाव को समझा। मित्रा दुनिया के उन तीन अग्रणी वैज्ञानिकों में से थे जिन्होंनें *इंडियन ओशन इक्सपेरिमेन्ट* (इंडोएक्स) में भाग लिया। इस प्रयोग को भारतीय महासागर में किया गया जहां पर अंटार्कटिक से आई शुद्ध हवा भारतीय महाद्वीप से आई प्रदूषित हवा से मिलती थी। भारतीय महासागर इस अनूठे प्रयोग के अध्ययन की एक विशाल प्रयोगशाला बनी। वैज्ञानिकों को भारत के क्षेत्रफल से सात गुना बड़ी एक गहरी धुन्ध उत्तरी भारतीय महासागर में दिखाई पड़ी। इस धुन्ध से बादलों के बनने और वर्षा की मात्रा पर गम्भीर परिणाम हो सकते थे। मित्रा ने चेतावनी दी थी कि ऐरोसोल के सूक्ष्म कणों से वर्षा और कृषि उपज पर प्रभाव पड़ सकता है और दमा बढ़ सकता है।

मित्रा ने पानी के संरक्षण पर विशेष बल दिया और भविष्य में देशों के बीच पानी को लेकर युद्ध होने की सम्भावना से इंकार नहीं किया। वो कम-वर्षा वाले इलाकों में अधिक पानी चूसने वाली - गन्ने जैसे फसलों को प्रोत्साहित करने वाली संकीर्ण नीतियों के कड़े आलोचक थे।

उन्होंने 200 से अधिक वैज्ञानिक शोधपत्र के साथ-साथ कई पुस्तकें लिखीं या उनका सम्पादन किया। इनमें से कुछ उल्लेखनीय पुस्तकें हैं: *एडवान्सेस इन स्पेस एक्सप्लोरेशन* (1979, सम्पादित), *आइनोस्फीरिक इफैक्टस ऑफ सोलर फ्लेर्स, हयूमन इंफ्लूएनसिस ऑन एॅटमौस्फियर*। वो कई वैज्ञानिक शोध पत्रिकाओं के सम्पादन मंडल के सदस्य भी थे जैसे - *जर्नल ऑफ एटमौस्फीयरिक एंड टेरेस्ट्रियल फिजिक्स, स्पेस साइन्स रिव्यूस, इंडियन जर्नल ऑफ रेडियो एंड स्पेस फिजिक्स* और *मौसम*।

मित्रा को बहुत से पुरुस्कारों से सम्मानित किया गया जिसमें भौतिकी के लिए शांतिस्वरूप भटनागर अवार्ड (1986) और 1989 में पद्मभूषण शामिल थे। 1988 में उन्हें रॉयल सोसाइटी ऑफ लंदन का फेलो मनोनीत किया गया। वो कई अन्य प्रतिष्ठित विज्ञान अकादमियों के सदस्य भी थे।

मित्रा ने स्वतंत्र भारत में विज्ञान द्वारा विकास के सपने को जिया। उनका देहान्त 81 वर्ष की आयु में दिल्ली में 3 सितम्बर 2007 को हुआ। वो अपने पीछे पत्नी सुनन्दा, दो बेटियां और दो नातियां छोड़ गए।
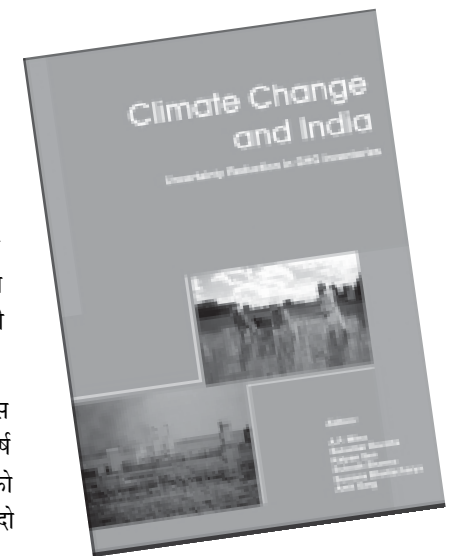
भारत में खगोलशास्त्र के शोध का ताना-बाना बुनने का अधिकांश श्रेय वायनू बप्पू को जाता है। उनके अथक परिश्रम की वजह से ही भारत में खगोलशास्त्र पर शोधकार्य की परिस्थितियों का निर्माण हुआ।

वायनू बप्पू का जन्म अगस्त 10, 1927 को हुआ। वैसा उनका परिवार कैनानोर का रहने वाला था परन्तु उनके पिता हैदराबाद में निजामिया ऑब्जरवेटरी में कार्यरत थे। इसलिए वायनू की स्कूल और कॉलेज की शिक्षा हैदराबाद में ही हुई। वो एक अच्छे वक्ता थे और इस कारण स्कूल में उनकी बहुत प्रशंसा होती थी। अपने कॉलेज में उन्होंनें विज्ञान-क्लब आयोजित किया और कॉलेज पत्रिका का सम्पादन भी किया। कॉलेज की फिजिक्स एसोसिएशन के सचिव की हैसियत से उन्होंने विज्ञान के विषयों पर कई लोकप्रिय भाषण आयोजित किए। 1943 में जब सर सी वी रमन ने हैदराबाद में कई लेक्चर दिए तो वायनू ने हर रोज अपनी साइकिल पर 16 किलोमीटर की यात्रा की जिससे कि कोई भी लेक्चर न छूटे।

वो शौकिया पेन्टर भी थे और साथ मे उन्हें उत्कृष्ट साहित्य में गहरी रुचि थी। उन्हें अंग्रेजी कविताओं से प्रेम था और उर्दू के शायर मिर्जा गालिब उनके सबसे प्रिय कवि थे। कॉलेज में वो एक शानदान क्रिकेट और टेनिस खिलाड़ी थे। एक साहसी युवा जैसे शायद उनके दिल में पॉयलट बनने की उमंग थी।

उनकी सबसे प्रिय पुस्तक थी द *स्पिरिट ऑफ सेन्ट लूई* जो प्रसिद्ध हवाबाज चार्ल्स लिन्डबर्ग की अमर गाथा है। विज्ञान और कला दोनों क्षेत्रों में वायनू के रोल-मॉडल विख्यात वैज्ञानिक होमी भाभा थे। वायनू की कलाकृतियों को आज भी उनके द्वारा स्थापित विभिन्न वेध शालाओं में देखा और निहारा जा सकता है।

बचपन से ही वायनू ने निजामिया ऑब्जरवेटरी (वेधशाला) में दूरबीने देखी थीं। रात्रि-आकाश के सौन्दर्य और विस्मय से वो बचपन से ही अवगत थे। कॉलेज में उन्होंनें एक स्पेक्ट्रोग्राफ का निर्माण किया। इसके लिए उन्होंने अपने शयनकक्ष की खिड़की से लगातार छह रातों तक एक 'संवेदनशील' प्लेट पर प्रकाश पड़ने दिया। 1946 में इस विषय पर उन्होंनें अपना पहला शोधपत्र लिखा।

1948 में एमएससी की पढ़ाई खत्म करने के बाद वो अपनी आजीविका के लिए खगोलशास्त्र का क्षेत्र चुनना चाहते थे। परन्तु उस समय भारत में इस पेशे के अवसर बहुत कम थे। पर भाग्यवश उसी समय इंग्लैन्ड के रॉयल खगोलशास्त्री सर हैरल्ड स्पेन्सर जोन्स और हारवर्ड यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर हॅरलो शेपली भारत की यात्रा पर आए थे। वायनू ने उनसे हैदराबाद में मुलाकात की। शेपली की मदद से 1949 में हैदराबाद सरकार द्वारा दिए वजीफे के कारण वायनू हारवर्ड यूनिवर्सिटी में उच्च शिक्षा के लिए जा पाए। हारवर्ड में वायनू ने अपने आपको बहुत काबिल और प्रेरक लोगों के बीच पाया। हारवर्ड आने के चंद महीनों के भीतर वायनू ने एक नया पुच्छलतारा (कॉमेट) खोजा। आकाश के सामान्य चित्रों को देखते हुए उन्हें एक फोटो-प्लेट पर कुछ अलग सा नजर आया। इस प्रकार अपने साथियों के साथ वायनू ने इस नए पुच्छलतारे को खोजा जो बाद में बप्पू-बोक-न्यूकिर्क के नाम से जाना गया। उनकी इस खोज के लिए एस्ट्रॉनामिकल सोसाइटी ऑफ द पैसेफिक ने बप्पू को डॉनोहो कॉमेट मेडल से सम्मानित किया।
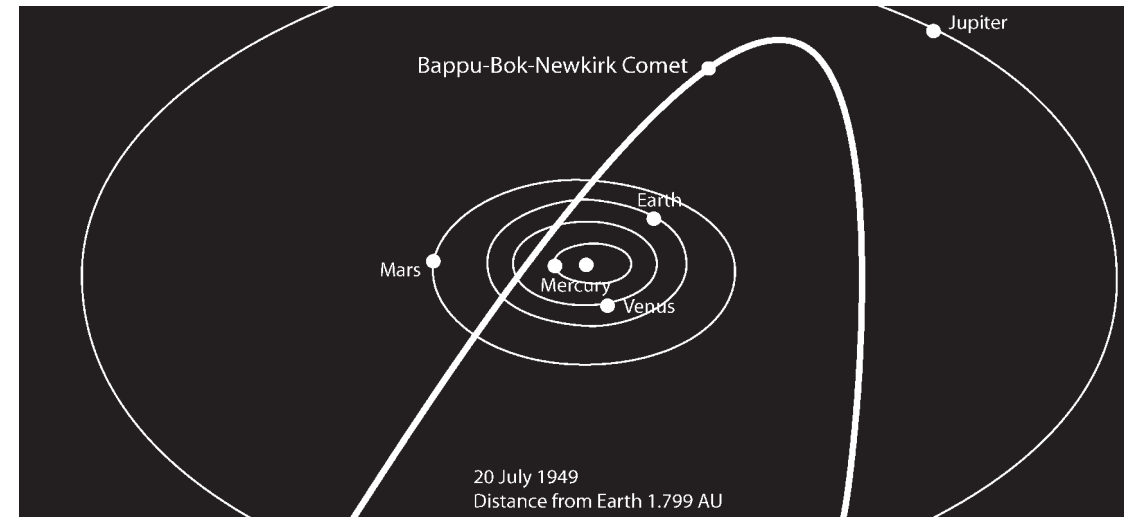
1951 में पीएचडी समाप्त करने के बाद बप्पू पहले भारतीय थे जिन्हें खगोलशास्त्र पर शोध कार्य करने के लिए प्रतिष्ठित कारनेगी मेलन फेलोशिप मिली। इस वजह से उन्हें माउंट पौलोमार स्थित दुनिया के सबसे बड़े 200-इंच टेलिस्कोप पर काम करने का सुअवसर मिला। बप्पू ने वौल्फ-रेयत तारों पर गहन शोध किया और इस क्षेत्र में उन्होंनें पूरे विश्व में बहुत शोहरत हासिल की।

1953 में बप्पू भारत लौटे। उस समय भारत में खगोलशास्त्र पर शोध करने की सुविधाएं एकदम प्राचीन थीं और देश में उपलब्ध सबसे बड़ा टेलिस्कोप मात्र 15-इंच का रिफ्रैक्टर था! 1954 में वायनू बप्पू ने वाराणसी स्थित उत्तर प्रदेश वेधशाला में प्रमुख खगोल विज्ञानी के रूप में काम शुरु किया। उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री को वेधशाला बेहतर स्थान पर ले जाने के लिए उन्होंने राजी किया। बप्पू ने इसके लिए नैनीताल के पास एक उपयुक्त पहाड़ी चुनी। कुछ ही सालों में उन्होंनें वहां पर कई युवा और प्रेरित वैज्ञानिक को प्रशिक्षित किया जिन्होंनें बाद में देश में खगोलशास्त्र के विकास में अहम भूमिका निभाई।

1960 में भारत सरकार के आग्रह पर बप्पू 170-साल पुरानी कोडाईकॅनाल वेधशाला के सबसे युवा निदेशक बने। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी ने 1792 में इसे मद्रास में स्थापित किया था। फिर उसे 1899 में कोडाईकॅनाल में स्थानातंरित किया। इससे पहले प्रतिष्ठित खगोलशास्त्री जैसे एन.आर. पोगसन और *एवरशेड प्रभाव* के जॅान एवरशेड इस संस्था के निदेशक रह चुके थे। बप्पू ने यहां पर एक उपकरण निर्माण और दूसरी आप्टिक्स की वर्कशाप स्थापित कीं। इनमें कई छोटी दूरबीनों और स्पेक्ट्रोस्कोप्स का निर्माण हुआ। उन्होंनें पुराने सोलर दूरबीनों में जटिल इलेक्ट्रानिक्स का समावेश कर सूर्य की जांच-पड़ताल करने के लिए उनकी क्षमता को बढ़ाया। कोडाईकॅनाल में बप्पू ने खगोलशास्त्र पर शोधकार्य करने वाली एक सम्पूर्ण संस्था और एक वेधशाला का सपना संजोया।

पूरे साल सूर्य अध्ययन के लिए कोडाईकॅनाल वेधशाला की स्थिति एकदम अनउपयुक्त थी। नए स्थान की खोज में बप्पू ने कन्याकुमारी से लेकर तिरुपती तक का भ्रमण किया और अंत में उन्हें तमिलनाड में जवडी पहाड़ी के पास एक उपयुक्त स्थान मिला। यहां उन्हें एक पठार मिला जो चारों ओर पहाड़ियों से घिरा हुआ था। कावालूर नाम के गांव के पास स्थित यह स्थान खगोलशास्त्रीय अवलोकनों के लिए सर्वोत्तम था। बप्पू ने कावालूर में 38-इंच का टेलिस्कोप स्थापित किया। बाद में इसी वेधशाला में उन्होंनें 100 सेमी का कार्ल जाईस टेलिस्कोप लगाया।

1971 में कोडाईकॅनाल और कावालूर वेधशालाओं ने सम्मिलित रूप से एक स्वतंत्र शोध केन्द्र की स्थापना की - द *इंडियन इंस्टि्टयूट ऑफ एस्ट्रोफिजिक्स*
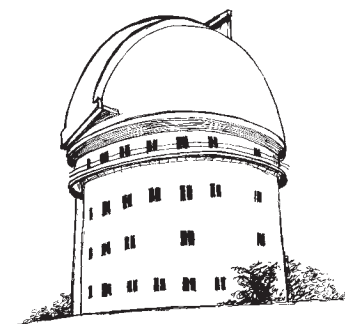
(आईआईए)। इस संस्था ने देश में खगोलशास्त्र के क्षेत्र में अनुसंधान का महत्वपूर्ण कार्य किया। इस संस्था का एक सैद्धांतिक ग्रुप और दूसरा उपयोगी ग्रुप था जिसका काम देश भर में स्वदेशी टेलिस्कोपों का निर्माण करना था। आईआईए की शुरुआत रमन रिसर्च सेन्टर में हुई थी पर जल्द ही वो कोरमंगला, बैंगलोर में अपने ही कैम्पस में स्थानांतरित हो गया। बप्पू चाहते थे कि आईआईए खगोलशास्त्र में विश्व का एक अग्रणी केन्द्र बने और इस दिशा में उन्होंनें बहुत परिश्रम किया। कावालूर में कार्ल जाईस के टेलिस्कोप लगने के पंद्रह दिनों के अंदर ही वहां एक अनूठा और विरल *'ऑकलटेशन'* दिखा। इससे बृहस्पित ग्रह के चंद्रमा - गैनीमीड में वातावरण होने का प्रमाण मिला। इसके कुछ वर्ष पश्चात इसी टेलिस्कोप से यूरेनस के रिंग दिखाई दिए जिनसे बृहमांड के बारे में हमारा ज्ञान बढ़ा। इस प्रकार बप्पू एक विश्व स्तरीय क्षमता वाली वेधशाला स्थापित करने में सफल हुए।

1970 में नोबेल पुरुस्कार विजेता एस चंद्रशेखर आईआईए देखने गए और उन्होंनें बप्पू के प्रयासों की खूब प्रशंसा की। इतने श्रम और लगन का जीवन बिताने से 55 वर्ष की अल्पायु में ही बॅायपास सर्जरी के बाद 19 अगस्त 1982 को बप्पू का देहान्त हो गया। अपनी मृत्यु से कुछ समय पहले ही वो *इंटरनैशनल एस्ट्रोनोमिकल यूनियन* (आईएयू) के अध्यक्ष पद के लिए चुने गए थे। बप्पू के सपनों वाले 234-सेमी टेलिस्कोप को बाद में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी ने राष्ट्र को समर्पित किया। तभी कावालूर वेधशाला का नाम बदलकर बप्पू के सम्मान में *वायनू बप्पू आब्जरवेटरी* रखा गया।

बप्पू अपनी बहुमुखी प्रतिभा के कारण बहुत से पुरुस्कारों से सम्मानित हुए। 1970 में उन्होंनें शांतिस्वरूप भटनागर पुरुस्कार और 1977 में फिजिक्स के लिए हरिओम आश्रम पुरुस्कार जीता। 1981 में भारत सरकार ने उन्हें पद्मभूषण से सम्मानित किया। अपने एक भाषण में बप्पू ने कहा, *'अक्सर हम यह देखते हैं कि कोई कमाल का आदमी आता है जो श्रम और अव्यवस्था की स्थिति को परिवर्तित कर उसे तर्कसंगत, सुंदर और सरल बना जाता है।'* इन शब्दों को बयां करते समय शायद बप्पू को इस बात का अंदाज नहीं था कि वो खुद अपनी जिन्दगी का वर्णन कर रहे थे।

टेलिस्कोप
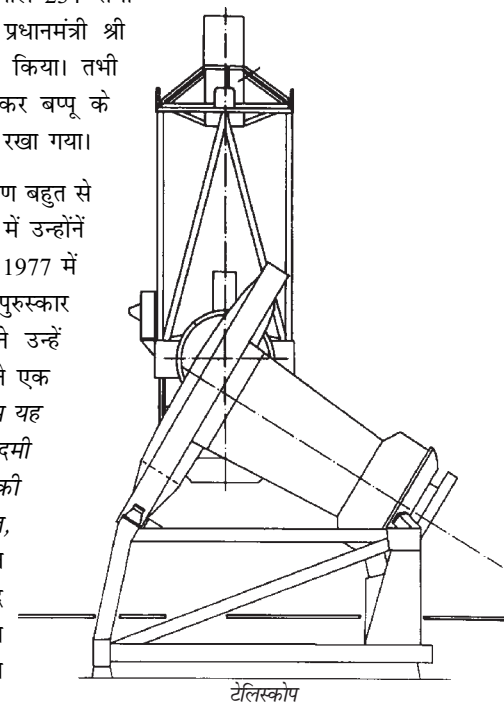
'मैंने अक्सर युवा डॉक्टरों को यह सलाह दी है कि वो ढेरों पैसे बनाने के चक्कर में न पड़ें - मरीजों की कतृज्ञता और उनका आभार ही उनके लिए पर्याप्त फीस होनी चाहिए।' - पी के सेठी

दुनिया भर के युद्ध क्षेत्रों में - अफगानिस्तान, श्रीलंका से लेकर रवांडा तक बहुत से लोगों ने उत्तर भारत के एक शहर जयपुर के नाम सुना है। राजस्थान की राजधानी जयपुर का नाम युद्ध क्षेत्रों में एक अद्वितीय कृत्रिम पैर - *जयपुर-फुट* के कारण मशहूर है। लैंड माइन्स से बने विकलांग लाखों लोगों के लिए यह क्रांतिकारी पैर एक वरदान साबित हुआ है। *जयपुर-फुट* का डिजाइन डॉक्टर प्रमोद कर्ण सेठी ने अपने सहसाथी के साथ मिल कर किया।

प्रमोद का बचपन वाराणसी में बीता। उनके पिता डॉ. निखिल कर्ण सेठी बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में फिजिक्स पढ़ाते थे। घर में पढ़ाई, सादगी, बलिदान और सेवा जैसे मूल्यों पर जोर था। परिवार में गांधीजी के आदर्शों का बोलबाला था। प्रोफेसर सेठी ने भौतिकशास्त्र पर हिन्दी में पहली पुस्तक लिखी और उसके बाद उन्होंनें कई वैज्ञानिक ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद किया। शादी में दहेज देने की बजाए उन्होंने अपनी सभी बेटियों को उच्च शिक्षा के लिए प्रोत्साहित किया। 1930 में प्रोफेसर सेठी आगरा कॉलेज में पढ़ाने लगे इसलिए प्रमोद की शिक्षा भी वहीं हुई। प्रमोद सेन्ट जॉन्स स्कूल में पढ़े। बाद में उन्होंनें एमबीबीएस और एमएस की डॉक्टरी पढ़ाई सरोजनी नायडू मेडिकल कॉलेज आगरा से पूरी की। अपनी विलक्षण प्रतिभा के कारण 1954 में उन्हें एडिन्ब्रा से एफआरसीएस की डिग्री प्राप्त हुई।

प्रमोद की ट्रेनिंग तो एक सर्जन के रूप में हुई थी और वो बिल्कुल संयोग से हड्डी-रोग के क्षेत्र में आए। एक उच्च समिति जयपुर के सवाई माधो सिंह अस्पताल का मुआइना करने के लिए आने वाली थी। क्योंकि अस्पताल में हड्डी-रोग का कोई विभाग ही नहीं था इसलिए प्रधानाचार्य ने उनसे इस नए विभाग को शुरु करने को कहा। उनकी इस कृति के कितने दूरगामी परिणाम होंगे इसका अंदाज शायद प्रधानाचार्य को भी नहीं था। बाद में सेठी ने एक हल्के, टिकाऊ, कम-लागत का कृत्रिम पैर बनाया जिससे दुनिया भर में लाखों विकलांगों के जीवन में परिवर्तन आया।

जयपुर-फुट का इजाद एक अनूठी टीम ने किया: एक पेशेवर सर्जन डॉ. प्रमोद कर्ण सेठी जो ब्रिटेन के रॉयल कॉलेज ऑफ सर्जन्स के फेलो थे और उनके साथी रामचंद्र शर्मा ने। शर्मा एक विलक्षण मिस्त्री और शिल्पी थे जो कभी स्कूल नहीं गए थे। दोनों तीस वर्ष पहले पहली बार जयपुर के सवाई माधो सिंह अस्पताल में ही मिले। तब डॉ. सेठी वहां विकलांग मरीजों के लिए बैसाखियां बना रहे थे और शर्मा कोढ़ के मरीजों को हस्तशिल्प बनाना सिखा रहे थे।

सेठी पोलियो पीड़ितों और पैर कटे मरीजों के लिए जयपुर में ही उपयुक्त, कम-कीमत वाले उपकरण बनाना चाहते थे। कृत्रिम अंग बनाने के केन्द्र बहुत दूर पुणे या मुम्बई में थे जहां केवल अमीर लोग ही जा सकते थे। इसलिए सेठी ने अस्पताल के प्रांगड़ में ही विकलांगों के लिए कुछ स्थानीय उपकरण बनाने की सोची। पुणे स्थित आर्मी लिम्ब सेन्टर एक विदेशी कृत्रिम पैर बनाता था। यह पैर बहुत भारी और कड़ा था और उसे हमेशा जूते से ढंक कर रखना पड़ता था। लोग मजबूरी में उसे उसे खरीदते पर जल्द ही उसे त्याग देते थे। इसमें जूता सबसे बड़ी अड़चन था। भारत में लोग खेतों में, घरों में और पूजा के स्थानों पर बिना जूते के नंगे पैर जाने के आदी होते हैं। यह विदेशी जूता बहुत मंहगा होने के साथ-साथ पानी और मिट्टी के सम्पर्क में आकर बहुत जल्दी खराब हो जाता था। उसमें एक और कमी थी - वो लचीला नहीं था। विदेशी पैर लगाकर लोग न तो शौचालय में और न ही पालथी मार कर बैठ सकते थे।

सेठी को श्रीलंका में बना एक डिजाइन अच्छा लगा। उसमें कृत्रिम टांग को रबर के पैर से ढंका गया था। इसे पहनकर आम किसान पानी से भरे धान के खेतों में काम कर सकता था। सेठी ने एक स्थानीय कारीगर से वल्कनाइज्ड रबर का एक कृत्रिम पैर का नमूना बनवाया। शुरु का पैर भारी और कड़ा था पर धीरे-धीरे करके उसमें सुधार हुआ और उसके खोल को हल्की स्पंज रबर से भरा गया। बाद में ऐड़ी के स्थान पर मॉइक्रो-सेल्युलर रबर लगाई और ऊपर की ओर पच्चर काट कर एक सभी दिशा में
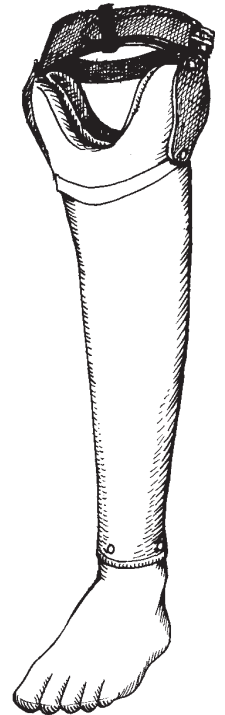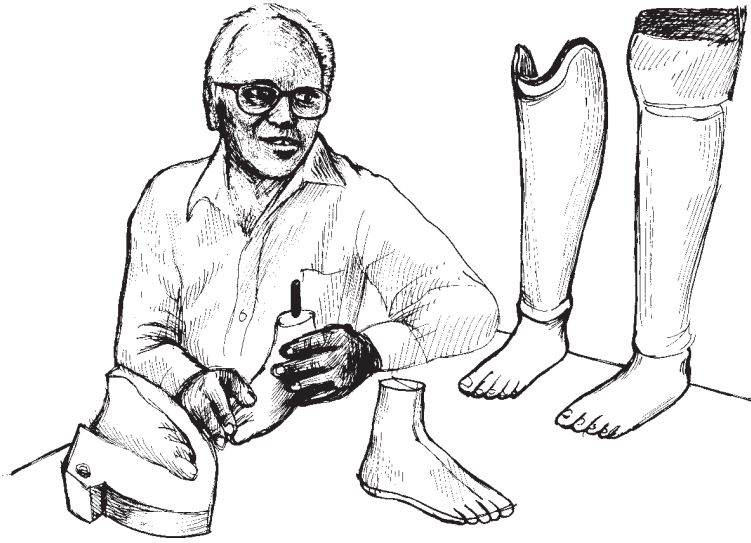
मुड़ने वाला जोड़ बनाया गया। एक मरीज के भाई ने बाहरी रबर को बिल्कुल चमड़ी जैसा रंग दिया। तो इस प्रकार बना पहला *जयपुर-फुट*।

जयपुर-फुट की जमकर जांच आजमाईश हुई जिससे उसके टिकाऊपन, उपयुक्त कीमत और आरामदेयता की पुष्टि हुई। चलते समय जब चौड़ा पैर जमीन को स्पर्श करता तो उससे पहनने वाले को सुरक्षा का अनुभूति होती। बाहरी रबर के खोल के कारण यह कृत्रिम पैर टूट-फूट से मुक्त था। अगर उसकी सतह खुरच जाती तो उसकी मरम्मत साइकिल के पन्चर जैसे पैबन्द लगाकर की जा सकती थी।

1970 में डॉक्टर सेठी ने *जयपुर-फुट* पर पहला शोधपत्र लिखा। 1974 में उन्हें स्विटरजलैन्ड में कृत्रिम अंगो पर हो रही फर्स्ट वर्ल्ड कान्फ्रेन्स में मुख्य वक्ता के रूप में आमंत्रित किया गया।

1975 में बिहार के एक धनी मरीज श्री अर्जुन अग्रवाल ने एक बड़ा अनुदान दिया जिससे कि अस्पताल में ही एक पांच-मंजिला पुनर्वासन केन्द्र का निर्माण सम्भव हो पाया। उसके बाद राज्य सरकार और निजी दाताओं ने भी अनुदान दिए। किस प्रकार मरीज पुनर्वासन केन्द्र में आते हैं और उनका स्वागत होता है यह वर्णन पढ़ने लायक है। *'मरीज देश के सभी हिस्सों से बिना खबर दिए वहां पहुंचते हैं। अक्सर उनके साथ कोई रिश्तेदार होता है। सबसे पहले वो सुरक्षित अस्पताल पहुंचने की खबर अपने घर वालों को टेलीफोन से देते हैं। अस्पताल में भोजन, रहना और सारा उपचार मुफ्त होता है। सभी मरीजों को एक सरल किट दी जाती है - जिसमें साबुन, मंजन, ब्रुश, थाली, मग और एक तौलिया शामिल होती है। इन सब वस्तुओं के साथ लैंस होकर मरीज पुनर्वासन केन्द्र के आंगन में प्रवेश करता है। आंगन में*

पहले ही बहुत से विकलांग होते हैं - वो नए मरीज के मर्म को समझते हैं, उसका आदर करते हैं और इस सामूहिक अनुभव से मरीज के आत्म-विश्वास और और आत्म-सम्मान दोनों में इजाफा होता है। उपचार पूरा होने के बाद मरीज को मुफ्त में घर जाने का ट्रेन टिकट और यात्रा के दौरान भोजन का एक पैकिट भी दिया जाता है।' (मैगसेसे पुरुस्कार का उद्धरण)

नये पैर का नाप लेने और उसे बनाने में लगभग एक घंटे का समय लगता है। हर मरीज की विशिष्ट जरूरतों के हिसाब से ही उसका पैर बनाया जाता है। *जयपुर-फुट* को पहनने के बाद व्यक्ति आसानी से खेत में काम, पेड़ पर चढ़ना, रिक्शा चलाना, ऊबड़-खाबड़ जमीन पर चलना या फिर पारम्परिक नृत्य भी कर सकता है। पश्चिमी देशों में पैर कटे मरीज अक्सर बूढ़े लोग होते हैं जबकि भारत में यह अक्सर युवा और गरीब प्रवासी मजदूर होते हैं।

1978 में सेठी को विलक्षण मेडिकल टीचर के लिए बी.सी. रॉय पुरुस्कार से सम्मानित किया गया। 1981 में उन्हें भारत सरकार ने पद्मश्री से अलंकृत किया। उसी वर्ष उन्हें सामुदायिक सेवा के लिए गौरवपूर्ण मैगसेसे पुरुस्कार से सुशोभित किया गया।

डॉ. सेठी बहुत पढ़े-लिखे और विद्वान थे। उनकी पेड़-पौधों में गहरी रुचि थी। उन्हें पुस्तकों और संगीत से गहरा लगाव था। उनका भारतीय और पश्चिमी शास्त्रीय संगीत - जैज, रॉक और लोकगीतों में रुचि थी। वो कभी किसी क्लब के सदस्य नहीं बने और न ही कभी वो छुट्टी बतौर किसी यात्रा पर गए। वो खाली समय अपने परिवारजनों के साथ घर पर ही बिताना पसन्द करते थे। परिवार में उनकी पत्नी सुलोचना, तीन बेटियां और एक बेटा था। 80 वर्ष की आयु में 6 जनवरी 2008 को डॉ. सेठी का देहान्त हुआ।

जयपुर-फुट के ऊपर डेविड सुजूकी ने कैनेडियन ब्राडकास्टिंग कारपोरेशन के लिए एक डाक्यूमेन्ट्री फिल्म बनाई थी। *'नाचे मयूरी'* नामक बम्बईया फिल्म ने *जयपुर-फुट* को सदा के लिए अमर कर दिया है। यह सदाबहार फिल्म एक प्रसिद्ध शास्त्रीय नृतकी सुधा चंद्रन के बारे में है जिनका किसी हादसे में एक पैर जाता रहा। उन्होंनें अपने पैर में *जयपुर-फुट* लगाया और फिर नए सिरे से नृत्य किया और सफलता की बुलंदियों को छुआ। कक्षा तीन के बच्चे सुधा चंद्रन के इस संघर्ष और जयपुर-फुट की सफलता को अब अपनी अंग्रेजी की पाठ्यपुस्तक में पढ़ सकेंगे।
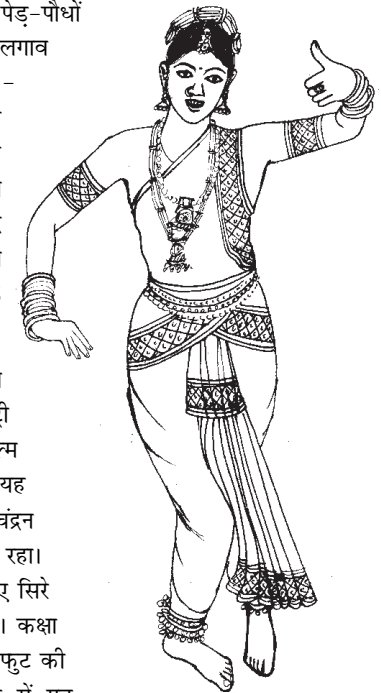
सुधा चंद्रन

आजकल लिक्विड क्रिस्टल सभी जगह उपयोग में लाए जा रहे हैं - मोबाइल फोन्स से लेकर बड़े टेलीविजन स्क्रीन में भी। पहले वाले भारी भरकम कैथोड-रे ट्यूब अब लुप्त हो गए हैं और उनका स्थान अब लिक्विड क्रिस्टल डिसप्ले ने ले लिया है। लिक्विड क्रिस्टल के क्षेत्र में विकास का अधिकांश श्रेय शिवरामाकृष्णन चंद्रशेखर के विलक्षण शोधकार्य को जाता है। लोग प्यार से उन्हें चंद्रा बुलाते थे।

चंद्रा का जन्म 6 अगस्त 1930 को कलकत्ते में हुआ। उनके पिता ब्रिटिश सरकार के लिए काम करते थे। बाद में पदोन्नति के बाद वो स्वतंत्र भारत के एकाउंटेन्ट जनरल बने। पिता के तबादलों के कारण परिवार को अलग-अलग शहरों में जाना पड़ता था जिससे चंद्रा की स्कूली पढ़ाई में विघ्न पड़ता था। चंद्रा को भी हर बार नए स्कूल में जाना अच्छा नहीं लगता था उसके बावजूद वो अपनी कक्षा में अच्छे अंक लाते। चंद्रा एक नामी-गिरामी परिवार के थे। उनकी मां सीतालक्ष्मी प्रसिद्ध वैज्ञानिक और विज्ञान में नोबेल पुरुस्कार पाने वाले पहले भारतीय सर सी वी रमन की छोटी बहन थीं। चंद्रा के छोटे भाई पंचरत्नम (पंचरत्नम फेज के लिए प्रख्यात) का कम उम्र में ही देहान्त हो गया था। चंद्रा के बड़े भाई प्रोफेसर एस. रामाशेषन भी एक बहुत प्रसिद्ध वैज्ञानिक थे। 1951 में चंद्रा एमएससी की परीक्षा में नागपुर यूनिवर्सिटी में सर्वप्रथम आए। उन्होंनें दो स्वर्ण पदक जीते और वहीं से पीएचडी की।
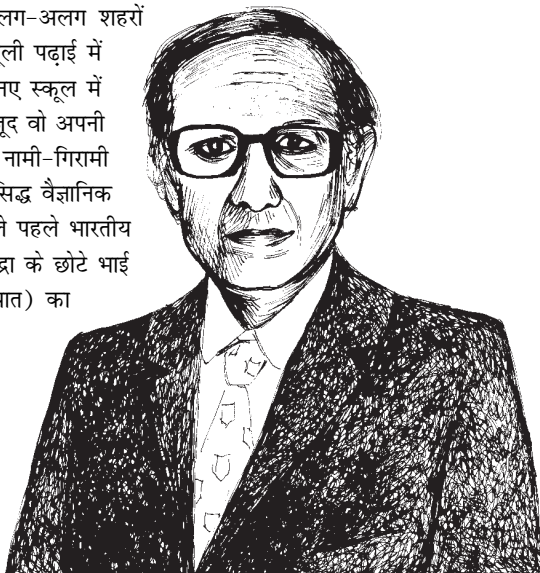
उसके बाद चंद्रा बंगलोर आए और वहां उन्होंने नई खुली रमन रिसर्च इंस्टि्टयूट में काम प्रारम्भ किया। वो अपने विख्यात मामा सर सी.वी. रमन के पहले शोध छात्र थे। उन दोनों के बीच का सम्बन्ध एक गुरु-शिष्य जैसा था और न कि मामा-भानजे का! उसी दौरान एक दिन चंद्रा की भेंट बड़े भाई प्रोफेसर रामाशेषन के घर पर अपनी भावी पत्नी इला के साथ हुई। चंद्रा को उस समय छोटी-सी रिसर्च ग्रांट मिलती थी पर उसमें में पैसे बचाकर उन्होंनें एक मोटरसाइकिल खरीदी। अपनी मोटरसाइकिल पर इला को बैठाकर जब चंद्रा सैर को जाते तो वहां के रुढ़िवादी समाज में काफी हलचल मचती! दुर्भाग्यवश एक दुर्घटना में चंद्रा को सिर में चोट लगी जिससे वो जीवन भर पीड़ित रहे। क्योंकि चंद्रा और इला भिन्न भौगोलिक इलाकों से थे और अलग-अलग भाषाएं बोलते थे इसलिए विवाह से पहले कुछ समस्याएं अवश्य आयीं। परन्तु जल्द ही उनका हल भी निकल आया।

विवाह के तुरन्त बाद चंद्रा को एक वजीफा मिला और वो इंग्लैन्ड की प्रख्यात कैविन्डिश लैबोरेट्री में शोध करने चले गए। वहां उन्होंने एक्स-रे प्रकीर्णन (स्कैटरिन्ग) में केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी से दूसरी डॉक्ट्रेट की डिग्री हासिल की। 1961 में भारत वापस लौटने के बाद वो मैसूर यूनिवर्सिटी के फिजिक्स विभाग के पहले प्रमुख बने। वहां फिजिक्स विभाग एक बियाबान जंगल में स्थित था। इस जमीन की मालकिन मैसूर की राजकुमारी लीलावती थीं। आसपास के जंगल की सफाई के बावजूद इस इलाके में जंगली सियार, उल्लू और तेंदुए आते-जाते थे। यहां पर चंद्रा की रुचि लिक्विड क्रिस्टल में पैदा हुई। इससे पहले यह विज्ञान का एक उपेक्षित क्षेत्र था और बहुत कम वैज्ञानिक ही लिक्विड क्रिस्टल पदार्थों के बारे कुछ जानते थे। चंद्रा ने बाद में इस बारे में लिखा, *'उस समय इस विषय के बारे में मेरी जानकारी बहुत कम थी। मैं उसके बारे में जो कुछ थोड़ा-बहुत जानता था वो जानकारी मैंने दस साल पहले 1930 की छपी किताबों में पढ़ी थी।'* फिर भी चंद्रा ने अपने शोध कार्य से विज्ञान के इस क्षेत्र की तस्वीर बदली - वो उसे ठोस स्थित से लिक्विड (तरल) क्रिस्टल की ओर ले गए।

ब्रिटेन की केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी और यूनिवर्सिटी कॉलेज लंदन में कुछ समय बिताने के बाद 1971 में चंद्रा बंगलौर की रमन रिसर्च इंस्टि्टयूट में आए। वहां उन्होंनें अपने कुछ पुराने छात्रों की सहायता से मिलकर एक लिक्विड क्रिस्टल लेबोरेटरी स्थापित की जिसकी प्रसिद्धी जल्द ही दूर-दूर तक फैली। चंद्रा को इस बात का अंदाज था
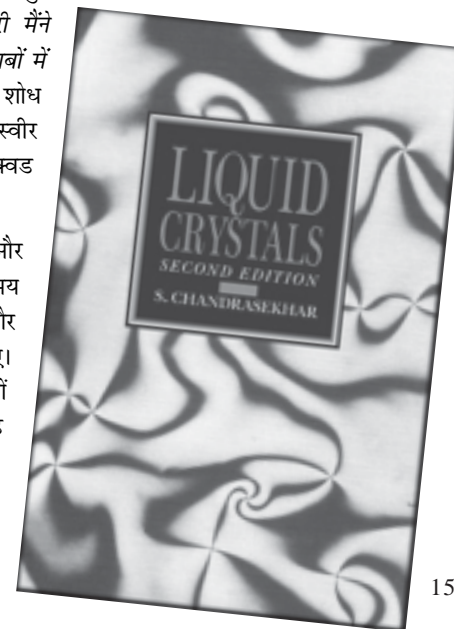
कि अत्याधुनिक शोधकार्य के लिए नए पदार्थ की निर्माण क्षमता अत्यावश्क होगी। इसलिए उन्होंनें साथ में नए पदार्थ बनाने के लिए एक औरगैनिक प्रयोगशाला भी स्थापित की। जल्द ही चंद्रा की प्रयोगशाला अपने मौलिक शोधकार्य के कारण पूरे विश्व में लिक्विड क्रिस्टल पर अनुसंधान का एक अग्रणी केन्द्र बन गई। 1977 में चंद्रशेखर जब अपने वैज्ञानिक कैरियर के शिखर पर थे तब उन्होंनें अपने सहकर्मियों के साथ मिल एक नए प्रकार के लिक्विड क्रिस्टल की खोज की जो नए तरह के परमाणुओं का बना था। इन परमाणुओं का आकार चकतियों जैसा था। ये परमाणु पहले अध्ययन किए बेलनाकार परमाणुओं से बिल्कुल भिन्न थे। इस खोज से चंद्रा को अंतर्राष्ट्रीय ख्याति मिली। इस खोज का समाचार *प्रमाण* नामक वैज्ञानिक शोधग्रंथ में पहली बार छपा। लिक्विड क्रिस्टल के क्षेत्र में इस निबन्ध का आज भी सबसे अधिक उल्लेख होता है।

चकती लिक्विड क्रिस्टल का ढांचा।

अब तक चकती आकार वाले लगभग 1500 परमाणुओं को प्रयोगशालाओं में कृत्रिम तरीकों से बनाया जा चुका है और उनके भौतिक और रासायनिक गुणधर्मों पर 2000 से अधिक शोधपत्र लिखे जा चुके हैं। इन नए पदार्थों को नई चुनौतियों और तकनीकों के अनरूप ढाला जा रहा है जिनमें जेराक्स, सोलर सेल्स, आप्टिकल स्टोरेज डिवाइसेज, और हाइब्रिड कम्पयूटर चिप्स शामिल थे।
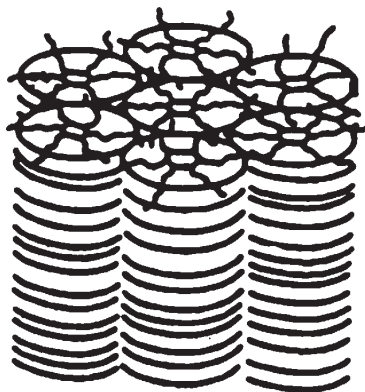
अन्य चीजों के साथ-साथ अब लिक्विड क्रिस्टलस जैविक ढांचों जैसे जीवित टिश्यूस, को समझने में मदद करते हैं। और यह ज्ञान जैविक मेम्ब्रेन्स को समझने के लिए आवश्यक है। इसलिए जीवशास्त्रियों और मेडिकल शोध कर्ताओं की भी लिक्विड क्रिस्टलस में गहरी रुचि रखते हैं। वो सब चंद्रा के काम के आभारी हैं।

1977 में केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस ने चंद्रशेखर की पुस्तक *लिक्विड क्रिस्टल* प्रकाशित की। यह इस विषय पर अनुसंधान करने वाले किसी भी छात्र के लिए बाइबिल के समान है। इस पुस्तक का रूसी एवं जापानी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। इस पुस्तक का संशोधित और विस्तृत संस्करण 1992 में छपा।

चंद्रशेखर ने कई अंतर्राष्ट्रीय समारोहों का आयोजन भी किया जिनमें से एक 1973 में आरआरआई की रजत जयन्ती के उपलक्ष में आयोजित किया गया। 1990 में आरआरआई से सेवानिवृत्ति के बाद में चंद्रशेखर ने भारत इलेक्ट्रानिक्स लिमिटेड द्वारा उपलब्ध करायी एक बिल्डिंग में *सेन्टर फॉर लिक्विड क्रिस्टल रिसर्च* की शुरुआत की।

चंद्रशेखर की वैज्ञानिक उपलब्धियों के कारण उन्हें बहुत से पुरुस्कारों से सम्मानित किया गया। भारत की तीनों वैज्ञानिक अकादमियों ने उन्हें अपना सदस्य बनाया। 1983 में उन्हें रॉयल सोसाइटी, इंस्टि्टयूट ऑफ फिजिक्स (लंदन) और थर्ड वर्ल्ड एकेडमी ऑफ साइन्सेज की फेलोशिप प्रदान की गई। 1990-92 में वो इंटरनैशनल लिक्विड क्रिस्टल सोसाइटी के अध्यक्ष बने और इस संस्था की पत्रिका *मॉलिक्यूलर क्रिस्टल और लिक्विड क्रिस्टल* को वो दो दशकों से ज्यादा तक सम्पादित करते रहे। उन्हें कई पुरुस्कार मिले - शांतिस्वरूप भटनागर पुरुस्कार (1972), होमी भाभा (1987), इन्सा का मेघनाद साहा मेडल (1992), रॉयल मेडल (1994), यूनेस्को का नील्स बोहर स्वर्ण पदक (1998) और भारत सरकार का पद्मभूषण सम्मान (1998)।

बीमारी की वजह से उन्हें थोड़ा काम हल्का करने की हिदायत दी गई थी। इसलिए वो घर पर ही आराम करते और आगन्तुकों से मिलकर खुश होते थे। जैसे-जैसे उनकी सेहत में सुधार आया वो फिर उत्साह से समारोह और बैठकों में भाग लेने की तैयारी कर रहे थे। दुर्भाग्य से 7 मार्च 2004 को उनका देहान्त हो गया। अपने पीछे वो अपनी पत्नी इला, बेटे अजीत और बेटी इंदिरा को छोड़ गए।
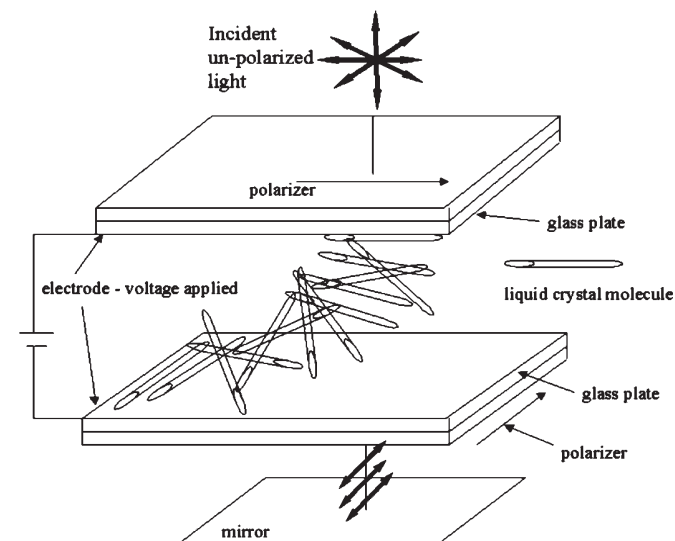
अब लिक्विड क्रिस्टल्स का उपयोग घड़ियों, मॉनिटर और टीवी स्क्रीन में होता है।

'अगर आप गरीबों के लिए सोचते हैं तो आप ग्रॉस नैशनल प्रॉडक्ट (जीडीपी) द्वारा ग्रॉस नेचर प्रॉडक्ट को खत्म नहीं होने दे सकते।' - अनिल अग्रवाल: वर्ल्ड वाइल्डलाइफ फंड, लंदन (अक्टूबर 8 1985)

अनिल अग्रवाल एक प्रमुख भारतीय पर्यावरणविद् थे। उन्होंनें पहली बार पर्यावरण की समस्या को गरीबों के नजरिए से देखा। गरीबों की संख्या तेजी से बढ़ने के कारण उन पर पर्यावरण के नाश और तेजी से जंगलों की सफाई करने आरोप लगाया जाता था। अग्रवाल ने इन अवधारणों को चुनौती दी। उनके अनुसार गरीबों का स्वार्थ जिम्मेदारी से पर्यावरण संरक्षण के साथ जुड़ा था।

अनिल अग्रवाल का जन्म कानपुर के एक व्यापारिक परिवार में हुआ। 1970 में उन्होंनें आईआईटी कानपुर से मिकैनिकल इंजिनियरिंग की डिग्री प्राप्त की। वो बहुत ओजस्वी वक्ता थे और आईआईटी में छात्र संगठन के अध्यक्ष चुने गए थे। पढ़ाई खत्म करने के बाद वो आईआईटी के अन्य छात्रों की तरह अमरीका नहीं गए और उन्होंनें *हिन्दुस्तान टाइम्स* नामक अखबार में विज्ञान संवाददाता जैसे काम किया। उनमें जटिल विचारों को सरलता और स्पष्टता से पेश करके की अद्भुत क्षमता थी। जल्द ही लोग उनकी लेखन शैली का लोहा मानने लगे।

1970 के मध्य में वो इंग्लैंड गए और वहां पर्यावरण की पुजारिन और *ओनली वन अर्थ* की लेखिका बारबरा वार्ड के सम्पर्क में आए। पर्याप्त अंतर्राष्ट्रीय अनुभव प्राप्त करने के बाद अग्रवाल 1980 की शुरुआत में नई दिल्ली वापस आए और वहां उन्होंनें *सेन्टर फॉर साइन्स एंड एन्वायरनमेन्ट* (सीएसई) स्थापित किया।

अनिल अग्रवाल का कार्टून,
साभार: रुस्तम वानिया
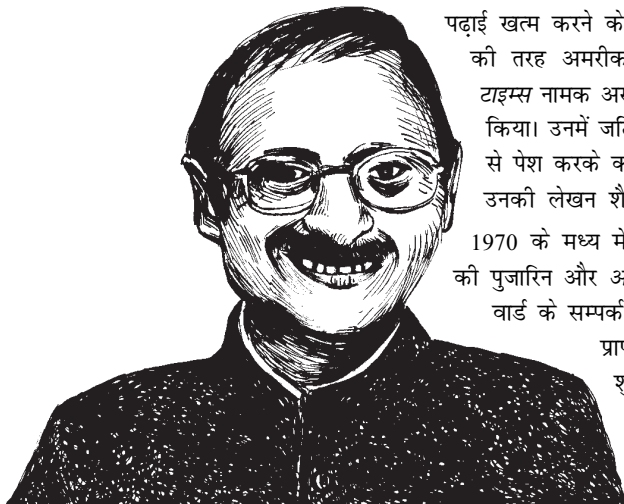
अग्रवाल के गहरे सोच और उनकी चिंताओं की पहली झलक द *स्टेट ऑफ इंडियाज एन्वायरनमेन्ट: ए सिटिजन्स रिपोर्ट* के छपने पर मालूम पड़ी। इस रिपोर्ट को लिखने में उनकी सहायता पर्यावरण आंदोलनों से जुड़े तमाम सक्रिय कार्यकर्ताओं ने की। इस पुस्तक में भारतीय पर्यावरण के उपयोग और दुरुपयोग का पहली बार गम्भीरता से आंकलन किया गया था। पुस्तक में ईमानदारी और आकर्षक तरीके से भारत के ढलते पर्यावरण की असलियत को दर्ज किया गया था। इस अनूठी पुस्तक को बहुत सराहा गया और उसे दुनिया की सैकड़ों गम्भीर पत्र-पत्रिकाओं में उसकी समीक्षाएं छपीं!

पहली सिटिजन्स रिपोर्ट ने संकुचित विचाधारा वाले विद्वानों, अंधी राजसत्ता और सोई जनता की आंखें खोलीं। रिपोर्ट ने गांव की ढलती अर्थव्यवस्था में घटते ईंधन-चारे (बॉयोमास) के दौर में महिलाओं पर पड़ते भारी बोझ की ओर ध्यान आकर्षित किया। इससे पर्यावरण और विकास के बीच के रिश्ते को समझने में मदद मिली। इस रिपोर्ट द्वारा उठाए मुद्दों पर जम कर चर्चा हुए और कुछ ठोस कदम भी उठाए गए। रिपोर्ट का दूरगामी प्रभाव पड़ा। इस पुस्तक का कन्नड़ और हिन्दी में अनुवाद प्रसिद्ध पर्यावरणविद् शिवराम कारन्थ एवं अनुपम मिश्र ने किया।

इसके बाद इसी प्रकार की अन्य *सिटिजन्स रिपोर्टस* छपती रहीं। अपनी पुस्तक द *पॉलिटिक्स ऑफ द इन्वायरनमेन्ट* में अग्रवाल ने जल और जमीन जैसे साधनों के समुचित दोहन के लिए सम्पूर्ण (होलिस्टिक) प्रबंधन की अपील की। तीसरी रपट *'बाढ़'* के विषय परं थी। चौथी रपट *डाईन्ग विजडम* में भारत के परम्परागत जल संचयन के तौर-तरीकों को संकलित किया गया था। जबकि पहली दो रपटों में आंदोलनों से जुड़े कार्यकर्ताओं का सक्रिय योगदान था, अंत की रपटें सीएसई ने खुद तैयार की थीं - जो सीएसई और पर्यावरण से जुड़े जमीनी आन्दोलनों के बीच लुप्त होते सम्बन्धों का भी द्योतक है।

टूवर्डस ग्रीन विलेजिस में अग्रवाल ने विकेन्द्रित ग्रामीण समुदायों द्वारा संसाधनों के नियंत्रण की पेशकश की। लोगों की सक्रिय भागीदारी से ही पर्यावरण सुधरेगा और ग्रामीण विकास होगा। सीएसई ने इसके सबूत में देश में चल रहे कई सक्रिय पर्यावरण आंदोलनों - हरियाणा में सुखोमाजरी, महाराष्ट्र में रालेगंज सिद्ध और राजस्थान में तरुण भारत संघ के अनुभवों को दर्ज किया। इन आंदोलनों ने जल-जमीन के मुद्दों पर समग्र रूप से काम किया था।

राजनैतिक पार्टियों से कुछ मूलभूत परिवर्तन होगा इस बात पर अग्रवाल को शक था। उन्हें जमीन से जुड़े आंदोलनों और संस्थाओं से उम्मीद थी कि वे राज्यसत्ता पर बदलाव के लिए दबाव डालेंगी। राजीव गांधी ने प्रधानमंत्री बनने के बाद अपने कैबिनट के सदस्यों और वरिष्ठ नौकरशाहों के लिए अग्रवाल द्वारा विशेष बैठकें आयोजित करी। इससे राजनेताओं में पर्यावरण और विकास के मुद्दों के प्रति एक सकारात्मक संजीदगी आयी।

एक जमाना था जब दिल्ली की हवा बहुत प्रदूषित थी और लोगों का दम घुट रहा था। उस समय अग्रवाल ने *स्लो-मर्डर* के प्रकाशन के साथ-साथ एक बुलन्द अभियान का सूत्रपात किया। इस रपट में बिना लाग-लपेट के उन्होंनें तेल कम्पनियों, ऑटो निर्माताओं और नियामक अधिकारियों को दोषी ठहराकर कटघरे में खड़ा किया। इस विश्लेक्षण के बाद एक जोरदार मीडिया अभियान भी छेड़ा जिससे परिणाम स्वरूप सुप्रीम कोर्ट ने प्रदूषण फैलाने वाली गाड़ियों पर अंकुश लगाया। अग्रवाल ने ठोस सबूतों और आंकड़ों के आधार पर देश के अग्रणी पूंजिपतियों और कम्पनियों को पर्यावरण प्रदूषण के लिए जिम्मेदार ठहराया। उसके बाद दिल्ली का पूरा सार्वजनिक परिवहन कम्प्रैस्ड नैचुरल गैस (सीएनजी) में परिवर्तित हुआ। अगर आज दिल्ली के लोग कुछ राहत की सांस ले रहे हैं तो इसका कुछ श्रेय अनिल अग्रवाल को अवश्य जाता है।

अग्रवाल ने पर्यावरण के मुद्दे पर एक पाक्षिक पत्रिका *डाउन टू अर्थ* की शुरुआत भी की। इसमें *गोबर टाइम्स* नाम का अति सुन्दर बच्चों की लघु पत्रिका भी होती है। सीएसई ने अक्सर बड़े-बड़े कॉरपोरेशन्स के खिलाफ ऊंची आवाज उठाई है और सरकार को सही नियम-कानून बनाने और उन्हें लागू करने के लिए बाध्य किया है। अनिल अग्रवाल द्वारा स्थापित सीएसई ने एक स्वतंत्र पर्यावरण प्रहरी की हैसियत से सार्वजनिक हितों के लिए बहुत प्रशंसनीय कार्य किया है।

1989 में अग्रवाल ने *ग्लोबल वार्मिन्ग इन एन अनईक्वल वर्ल्ड* पर एक लेख लिखा। उसमें उन्होंनें दिखाया कि गरीबों के आजीविका से जुड़े उत्सर्जन (एमीशन्स) धनी देशों की विलासता - मिलिटरी-औद्योगिक काम्पलेक्स से निकली जहरीली गैसों से बिल्कुल भिन्न हैं। पश्चिम के मुल्कों ने हमेशा प्रदूषण कर्ताओं को पुरुस्कार दिया है और उसके मुक्तभोगियों को सजा दी है। पश्चिमी देश हमेशा भारत और चीन जैसे विकासशील देशों को ग्लोबल वार्मिन्ग के लिए दोषी ठहराते हैं और उन्हें अपना घर साफ करने की हिदायत देते हैं। अग्रवाल ने इसे *पर्यावर्णीय औपनिवेशिकवाद* करार दिया और पश्चिमी देशों से ग्रीनहाउस गैसों की एतिहासिक जिम्मेदारी को स्वीकार करने का आग्रह किया। महासागरों और वायुमंडल द्वारा सोखी गई ग्रीनहाउस गैसों को कार्बन-सिंक कहते हैं। कार्बन-सिंक को वर्तमान में देशों द्वारा छोड़ी ग्रीनहाउस गैसों के अनुपात में बांटना एक घोर अन्याय होगा। अग्रवाल के अनुसार न्यायपूर्ण पद्धति में दुनिया के हर इंसान को कार्बन-सिंक में बराबरी का हिस्सा मिलना चाहिए।

India gets 100 hours of rain in a year. If we learn to catch and store this water it could resolve the water crisis.

अग्रवाल को अपने विलक्षण काम के लिए अनेकों पुरुस्कार मिले। आईआईटी कानपुर ने उन्हें डिस्टिंग्युशिड एल्मुनस अवार्ड से सम्मानित किया। 1987 में संयुक्त राष्ट्र संघ के पर्यावरण कार्यक्रम ने उन्हें ग्लोबल 500 रोल ऑफ हॉनर में सम्मिलित किया। भारत सरकार ने पर्यावरण एवं विकास के उनके उत्कृष्ट कार्य के लिए उन्हें पद्मभूषण से सम्मानित किया।

बीस सालों से भी ज्यादा अर्से तक अनिल अग्रवाल बुलन्दी के साथ पर्यावरण संरक्षण की आवाज उठाते रहे। उनमें जटिल वैज्ञानिक शोधपत्रों और विशेष अध्ययनों को पढ़ कर उन्हें सरल, स्पष्ट शब्दों में बयां करने की विलक्षण क्षमता थी। वो पर्यावरण की ज्वलंत समस्याओं को न केवल जनता के बीच उठाते पर एड़ी-चोटी का दम लगाकर उनका न्यायसंगत हल भी खोजते।

अग्रवाल बड़े दृढ़ संकल्प के व्यक्ति थे। एक लम्बे काल तक वो बीमारियों से जूझते रहे - पहले दमे से और 1994 के बाद एक अनूठे कैन्सर जिसका असर केवल मस्तिष्क और आंखों पर होता है। अंतिम क्षणों में अस्पताल के पलंग पर लेटे हुए भी वो अपने अंतिम अभियान की योजना बनाते रहे। 2 जनवरी 2002 को 54 वर्ष की अल्पायु में देहरादून में उनका देहान्त हुआ।

'वैज्ञानिक' शब्द से लोगों के जहन में एक ऐसे व्यक्ति की छवि उभरती है जो हमेशा किताबों, मंहगे उपकरणों, परखनलियों और धुंआ उगलते कांच के बीकर से घिरा हो। परन्तु वैज्ञानिकों की जिंदगी के भी तमाम आयाम होते हैं। इस पुस्तक के कुछ वैज्ञानिक कहानियां और कविताएं लिखते थे, कुछ कला के दीवाने थे और कुछ को तेज रफ्तार से बड़ी मोटरसाइकिलें चलाने का शौक था! कई वैज्ञानिकों का बाहरी समाज के साथ अंतरंग सम्बंध था और उन्होंनें दुनिया को बेहतर बनाने का भरकस प्रयास भी किया।

पुस्तक में वैज्ञानिकों के जीवन चरित्रों के साथ-साथ उनकी जिंदगी के कुछ रोचक पक्षों को भी संजोया गया है। उन्हें विज्ञान की प्रेरणा कैसे मिली? क्या उनके बचपन के कोई अनुभव इसके लिए जिम्मेदार था? क्या इस प्रेरणा के पीछे कोई विशेष व्यक्ति - उनकी मां या कोई शिक्षक था। वैज्ञानिकों ने विशेषकर उनमें महिलाओं ने क्या-क्या संघर्ष झेले? उनके जीवन के संघर्षों से युवा पीढ़ी निश्चित प्रेरित होगी।

अतीत के प्रेरक भारतीय वैज्ञानिक में 39 भारतीय वैज्ञानिकों की जीवनियों को संकलित किया गया है।

अरविन्द गुप्ता भारत में विज्ञान को लोकप्रिय बनाने और खिलौने बनाने के लिए मशहूर हैं। उन्होंनें भारत और विदेशों में 'कबाड़ से जुगाड़' विधि से वैज्ञानिक मॉडल बनाने की हजारों कार्यशालाएं आयोजित की हैं। वो पुस्तकें लिखते हैं और हिन्दी में अनुवाद करते हैं। उनकी लोकप्रिय वेबसाइट ***arvindguptatoys.com*** में खलौनों और पुस्तकों का एक अपार भंडार है।

अरविन्द ने 1975 में आई आई टी कानपुर से बी टेक हासिल की। चंद साल टेल्को में काम करने के बाद वो नौकरी छोड़ कर विज्ञान के प्रचार-प्रसार में लग गए। वर्तमान में वो आयुका पुणे में स्थित मुक्तांगन बाल विज्ञान केन्द्र में काम करते हैं। अपने काम के लिए उन्हें कई पुरुस्कार मिल चुके हैं जिनमें बच्चों में विज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए भारत सरकार का सर्वप्रथम राष्ट्रीय पुरुस्कार (1988) और आई आई टी कानपुर का डिस्टिंग्युशिड एल्मुनस अवार्ड (2000) शामिल है।

कैरन हैडॉक ने अपने बीस साल के भारतीय प्रवास में बच्चों की अनेकों पुस्तकों में अपने मनमोहक चित्रों से जान फूंकी है। वर्तमान में वो पुणे के पास महेन्द्रा वर्ल्ड कॉलेज में जीवविज्ञान पढ़ाती हैं। शिक्षक प्रशिक्षण और नए शैक्षिक तरीके विकसित करने में उनकी गहरी रुचि है। वो पुस्तकें भी लिखती हैं। पेशे से वो एक बॉयोफिजिसिस्ट हैं। उन्होंनें अपनी डाक्ट्रेट और उच्च शिक्षा अमरीका में पूरी की।

INDIAN NATIONAL SCIENCE ACADEMY

A publication of the Indian National Science Academy